

मेरे गुरुदेव

स्वामी विवेकानन्द

(एकादश संस्करण)



रामकृष्ण मठ
गाल्मीर

प्राप्तिपात्र-

स्वामी व्योमस्वामी
ब्रह्मण, रामकृष्ण मठ,
कन्तोली, नालपुर ४४००१२

यह पुस्तक भारत सरकार से रियावती मूल्य
पर प्राप्त कानून पर छापी गयी है।

श्रीरामकृष्ण - गिरावन्द - स्मृतिप्रस्तावना
पुस्तकालय ७
(रामकृष्ण मठ, नालपुर द्वारा सर्व अधिकार सुरक्षित)
(व ८२ : प्र ५०)

१-६-१९८२

मूल्य रु. २००

पुस्तक : स्वनंत्र प्रस्तुति काँड़ कं०, देहली-६

मेरे गुरुदेव

(स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा न्यू याकं में दिया हुआ नाम)

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

“जब जब धर्म का ह्रास होता है तथा अधर्म की बढ़ती होती है, तब तब मनुष्यजाति के उद्धार के निमित्त में अवतार लेता हूँ ।”*

जब कभी हमारे इस संसार में क्रमागत परिवर्तन तथा यिन्हें निम्न परिस्थितियों के कारण नये नये सामाजिक शक्ति-सामंजस्य की आवश्यकता होती है, उस समय एक शक्तितरंग आती है और मनुष्य के आध्यात्मिक तथा भौतिक क्षेत्रों में विचरण करने के कारण इन क्षेत्रों क्षेत्रों में ही इस तरंग का प्रभाव पड़ता है। एक और भौतिक क्षेत्र में आधुनिक समय में प्रधानतः यूरोप ने ही सामंजस्य स्थापित किया है और दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र में सारे संसार के इतिहास में एशिया ही समन्वय का मुख्य आधार रहा है।

आज आध्यात्मिक क्षेत्र में समन्वय की पुनः आवश्यकता है— आज, जब कि जड़वाद अपनी शक्ति तथा कीर्ति के शिखर पर है तथा जब यह सम्भव हो रहा है कि मनुष्य जड़ वस्तुओं पर अधिकाधिक

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिभवति भारत ।

धर्मस्यानन्दवर्मस्य तदात्मानं सूजाम्यहम् ॥

—गीता, ४।७

ज्ञानसम्बित रहने से अपनी दैवी प्रकृति भूलकर केवल धनोपार्जन का एक यन्त्र मान ही न बन जाये, समन्वय की बड़ी जागरूकता है। ऐसे अवसर के लिए ईश्वर-वाणी हो चुकी है और ऐसी दैवी जागित का ज्ञानमन हो रहा है जो बहुते हुए बड़वाहरूपी भेदों को तितरवितर कर देगी। इस जागित के खेत का आरूप हो चुका है और यह जागित ही ज्ञानवजाति में उसकी वास्तविक प्रकृति की स्मृति का संचार कर देगी; और वह स्वान, जहाँ जहाँ यह जागित सब दिशाओं में प्रसारित होगी, फिर एकिया ही होगी।

हमारा यह संसार अमविभाग की प्रणाली पर अवसम्बित है। यह कहना व्यर्थ है कि एक ही मनुष्य प्रत्येक वस्तु का धृष्टिकारी होगा, परन्तु फिर भी एक वस्त्रे के समान हृष कैसे अनजान हैं! ज्ञानवज्ञ एक वस्त्रा यही सोचता है कि समस्त संसार में बोल्हीय वस्तु केवल उसकी गुणिया ही है। इसी प्रकार एक जाति जो भीतिक जागित में अेष्ट है, सोचती है कि इस संसार में यदि कोई वस्तु अमूल्य एवं प्राप्त करने योग्य है तो वह भीतिक जागित ही है तथा उसकि एवं सम्भवता का अर्ब इसके अतिरिक्त दूसरा ही ही नहीं, और यदि कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो इसकी परवाह नहीं करतीं तथा जिनके पास यह जागित नहीं है तो वे टिकने योग्य नहीं हैं—उनका सारा अस्तित्व ही सर्वका निरर्बंक है। परन्तु हुदूरी बोर एक जाति के विचार ये भी हो सकते हैं कि केवल यह-सम्भवता ही नितान्त निरर्बंक है, और ऐसी जाती प्राच्य देश से ही उठी जिसने एक समय सारे संसार को यह बतला दिया कि किसी मनुष्य के पास यदि संसार कि सारी सम्भवति है, परन्तु जाग्यात्मिक जागित नहीं, तो वह सब किस काम का? यही जाप प्राप्त का है और इसके विवर दूसरा पारवात्म का।

ये दोनों ही याव महत्वपूर्ण रुपों गौरवपूर्ति हैं। मर्त्यालय समन्वय इन दोनों आदर्शों का सामन्वय तथा विवरण स्वरूप होगा। यावालय के लिए इन्हियप्राह्य प्रगति विताना चाल है, उठना ही प्राच्य के लिए आध्यात्मिक चाल है। आध्यात्मिक राज्य में प्राच्य जो कुछ चाहता है वा विसकी वह आका करता है तथा जो कुछ जीवन को सत्य बनाता है—यह सब उसे इसमें मिल जाता है। पाल्यालय को प्राच्य स्वरूपसुष्टि में ही विचरण करनेवाला दिखता है तथा प्राच्य भी पाल्यालय को बैठा ही देखता है और सोचता है कि यह तो केवल नालावान जिलीने से ही बेल रहा है और यह विचार कर हैंसता है कि वह यूँ पुराना स्त्रीर्या एक मुट्ठोभर ऐहिक बस्तु के सम्बन्ध में, जिसको कि आगे-भीछे उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा, जितना तिल का ताड़ करते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों एक दूसरे को स्वरूपसुष्टि में विचरण करनेवाले समझते हैं। परन्तु प्राच्य आदर्श मानवातिकी उभति के लिए उठना ही आवश्यक है जितना कि पाल्यालय आदर्श—और मैं सोचता हूँ कि आयर विधिक ही। मर्कीनों ने मनुष्य जाति को कभी सुखी नहीं बनाया और न बना सकेंगी। जो हमें इस बात का विश्वास दिलाने का यत्न कर रहा है, वह यही कहेगा कि सुख मर्कीनों में ही है, परन्तु है यह सदा मन में ही। केवल यही मनुष्य जो अपने मन का स्वामी है, सुखी हो सकता है—दूसरा नहीं। और आचिर यह मर्कीन की जानित है ही क्या? यदि कोई मनुष्य विजली के तार छारा विषुट-प्रवाह (Electric Current) जेव सकता है तो उसे हम एक बड़ा तथा दुष्टिमान मनुष्य क्यों कहें? क्या प्रकृति उसे कही याव मुना काम प्रत्येक लाल नहीं करती है? अतः हम

प्रकृति के ही चरणों पर गिरकर उसकी ही पूजा करें ? यदि तुम्हारी जाकित समस्त विश्व भर में फैल गयी तथा यदि तुमने विश्व के प्रत्येक परमाणु को बम में कर भी लिया तो क्या हुआ ? इससे तो तुम सुखी नहीं हो सकते । तुम सुखी तभी हो सकते हो जब तुम स्वयं को जीत लोगे । यह सत्य है कि मनुष्य का जन्म प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए ही हुआ है, परन्तु प्रकृति जब्द से पाश्चात्य जाति केवल भौतिक अवदा बाहु प्रकृति ही समझती है । यह सत्य है कि पहाड़ों, समुद्रों, नदियों तथा अपनी नाना प्रकार की अनन्त जाकियों द्वारा समन्वित यह बाहु प्रकृति अत्यन्त महान् है, परन्तु फिर भी मनुष्य की अन्तःप्रकृति इससे भी महातर है—यह सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रादि से भी उच्च है, हमारी इस पृथ्वी से—समग्र जड़-जगत् से भी श्रेष्ठ है और हमारे इन छोटे-छोटे जीवनों से भी अतीत है तथा यह हमारी गवेषणा के लिए एक विशिष्ट ज्ञेत्र है । जिस तरह पाश्चात्य जाति ने बहि-जंगत् की गवेषणा में श्रेष्ठत्व लाभ किया है, उसी तरह प्राच्य जाति ने अन्तर्जंगत् की गवेषणा में । अतः यह ठीक है कि जब कभी आध्यात्मिक सामंजस्य की आवश्यकता होती है तो उसका आरम्भ प्राच्य से ही होता है । साथ ही साथ यह भी ठीक है की जब कभी प्राच्य को मशीन बनाने के सम्बन्ध में सीखना हो तो वह पाश्चात्य के पास ही बैठकर उससे सीखे । परन्तु यदि पाश्चात्य ईश्वर, आत्मा तथा विश्व के रहस्य सम्बन्धी बातों को जानना चाहे तो उसे प्राच्य के चरणों के समीप ही आना चाहिए ।

मैं आपके सम्मुख एक ऐसे महापुरुष के जीवन का वर्णन करूँगा जिन्होंने भारतवर्ष में इन गहन विषयों की एक तरंग प्रवाहित कर दी । परन्तु इनका जीवन-चरित्र वर्णन करने के पूर्व

मैं यह बताने का यत्न करूँगा कि भारत का वैकल्पिक रूप क्या है तथा 'भारत' कोलने से हम क्या समझते हैं। ऐसे व्यक्ति, जिनकी अर्थे नश्वर वस्तुओं की ऊपरी तटक-भट्क से चाँधिया गयी हैं, जिनका सारा जीवन खाने-धीने तथा चैन करने के निमित्त ही समर्पण हो चुका है, जिनकी सम्पत्ति का आदर्श केवल भू-प्रदेश तथा सुवर्ण ही है, जिनके सुख का आदर्श केवल इन्द्रियज्ञ सुख ही है, जिनका ईश्वर केवल धन ही है, जिनके जीवन का व्यवहार ऐसा व बाराम करना तथा मर जाना ही है, जिनकी बुढ़ि दूरदर्शी नहीं है, जो इनसे उच्चतर बातें सोच ही नहीं सकते हैं, यदि भारत-वर्ष में जायें तो उन्हें बहाँ क्या दिखायी देगा?—प्रत्येक स्थान पर निर्धनता, अव्ययता, अन्धविश्वास, अज्ञान एवं बीभत्सता ही। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि उनकी समझ में सम्प्रत्यता का अर्थ है वेष-भूषा, किलाण तथा सामाजिक शिष्टाचार। पाश्चात्य जाति ने अपनी ऐहिक उपति के लिए सब प्रकार से यत्न किया है, परन्तु भारतवर्ष ने बैसा नहीं किया। यदि हम मनुष्यजाति के सारे इतिहास को देखें तो हम पायेंगे कि सारे संसार भर में केवल भारत में ही ऐसी जाति है जो अपने देश की सीमा के बाहर कभी किसी दूसरे देश को परास्त करने के लिए नहीं गयी, जिसने दूसरे की सम्पत्ति को कभी प्राप्त करने की हज्जा नहीं की। और यदि कहा जाय तो केवल उसका 'अपराध' यही जा कि उसकी भूमि बड़ी उपजाऊ और उसने अपने हाथों कड़ी मेहनत करके बन इकट्ठा किया और इस प्रकार दूसरे राष्ट्रों को यह प्रसोभन दिया कि वे आकर उसके यहाँ लूट-भार करें। परन्तु फिर भी वह लूट जाने पर तथा 'चंगली' कही जाने पर भी सन्तुष्ट है और उसके बदले में

संसार में ईश्वरविषयक ज्ञान का प्रचार करना चाहती है, जानव-प्रकृति के गुण एवं स्वभाव को संसार के सम्बुद्ध स्वभाव से प्रकट करना चाहती है तथा उस पर्वों को हटा देना चाहती है जो मनुष्य के असली स्वरूप को छिपाये हैं। वह जानती है कि यह सब स्वरूप है—वह जानती है कि इस जड़ के पीछे मनुष्य का प्रकृत ज्ञानवाद विचारज्ञान है जिसे न तो कोई पाप परित्यक्त कर सकता है, न काम कलंकित कर सकता है, न बाग बना सकती है और न जल बीका ही कर सकता है, जो आंच से सूख नहीं सकती और न जिसे काल अपने गाल में ही डाल सकता है। उसके लिए मनुष्य का यह असली स्वरूप उतना ही वास्तविक है जितना किसी पास्तवात्य जाति के लिए इन्द्रियगम्य जड़ पदार्थ। जिस प्रकार तुम शूरता से एक तोप के भूंह के सामने उड़ जाने के लिए कूद पड़ते हो तथा जैसे देवताभक्ति से प्रेरित हो उत्साह के साथ अपने देश के लिए प्राण भी दे देते हो, उसी प्रकार भारतवासी ईश्वर के नाम पर अपना सबंध अपंण करने में शूर होते हैं। यह बात उसी देश में है कि यदि कोई पुरुष किसी को यह सुना देता है कि यह संसार कल्पना मान है, केवल स्वर्णबद् है तो वह मनुष्य अपनी वेश-भूषा, धन-सम्पत्ति आदि सब का त्याग कर वह दर्शा देता है कि जो कुछ वह विद्वास करता है तथा मन से सोचता है, वह सब सत्य है। यह बात यही ही है कि जब मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि यह जीवन अनन्त है तो वह एक नदी के किनारे बाकर बैठ जाता है और अपने करीर को कुछ भी न समझकर उसका त्याग इस प्रकार से कर देना चाहता है जैसे हम जास-कूस का लिंगका छोड़ देते हैं। इसी में उनका शूरत्व है कि

वे मृत्यु का स्वागत एक भाई के समान करते हैं, क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मृत्यु जास्तीक में उनके लिए नहीं है। इसी में वह कल्पिता है जिसने इन्हें सैकड़ों बर्षों के विवेकियों के आनन्दमय तथा आत्माचारों से भी बंदून रखा। वह राष्ट्र आण भी है और उस राष्ट्र में जोर आपत्ति के दिनों में भी आत्मज्ञानी महापुरुषों का अवतार लेना कभी बन्द नहीं हुआ। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में बड़े बड़े राजनीतिज्ञों तथा वैज्ञानिकों का जन्म होता है, उसी प्रकार ऐसेया में महान् आत्मज्ञानी पुरुष जन्म लेते हैं। उभीसभीं जाताज्ञी के आरम्भ में जब कि पाश्चात्यों का प्रभाव भारतदर्श पर पड़ने लगा था और जब विजयी पाश्चात्य अपने हृष्टों में तसवार लेकर यहाँ के ऋषिपुरुषों को यह प्रभागित करने आये थे कि वे केवल जंगली थे, उनकी जाति बोखले ध्येयवासों की थी, उनका धर्म केवल काल्पनिक था तथा ईश्वर, आत्मा और प्रत्येक ऐसी वस्तु जिसको प्राप्त करने के लिए वे बर्षों से रगड़ रहे थे, केवल अर्थकून्य जब्द ही थे तथा उनका हृषारो बर्षों का सर्वसंग-परित्वान अर्थ ही हुआ तब तो विश्वविद्यालयों के तदण छात्रों के मन में वह संकल्प-विकल्प होने लगा कि कहाँ उनका उस समय तक सारा राष्ट्रीय प्रबल्त अर्थ ही तो नहीं गया, क्या उन्हें फिर पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर नये सिरे से यत्न करना चाहिए, अपने पुराने शब्दों को फाढ़ डालना चाहिए, प्राचीन चर्त्तव्यान को जला डालना चाहिए, अपने धर्मगुरुओं को मारकर भगा देना चाहिए तथा क्या अपने मन्दिरों को ढा देना चाहिए? क्या पाश्चात्य विजयी ने, जिसने अपने धर्म का प्रचार तसवार तथा बन्धुक की सहायता से किया, तुम्हें यह नहीं सिखावा कि तुम्हारी प्राचीन धर्मपद्धति केवल कुसंस्कार एवं निर्बादि प्रतिमा-पूजन तक ही सीमित है? बर्तः

जिन दण्डों ने इन नवी जातियों में निकालीका पायी, वे पाल्पाल्य पढ़ति पर चल निकले और दण्डन से ही इसके आदेशों में पक गवे और इसमें कोई आश्वर्य की बात नहीं कि प्राचीन पढ़ति के सम्बन्ध में उनके मन में तकँ-वितकँ होने लगा । कुसंस्कार को एक और हटाने तथा सत्य का अनुसन्धान करने की अपेक्षा उनके लिए चल गही एक महावाक्य सत्य की कसीटी हो गया, “इस सम्बन्ध में पाल्पाल्य की क्या राय है ?” धर्मगुदबों को भगा देना चाहिए, वेदों को जला-डालना चाहिए, क्योंकि पाल्पाल्यों ने ऐसा कहा है —इस प्रकार की खलबली के भावों से भारतवर्ष में एक ऐसी ताहर उठी जिसे हम ‘सुधार’ के नाम से युकारते हैं ।

यदि तुम एक सच्चे सुधारक होना चाहते हो तो तीन बातों की आवश्यकता है । प्रथम तो यह कि तुम्हारा हृदय अनुभवशील हो । क्या वास्तव में वपने भाईयों के लिए तुम्हारे प्राण छटपटा रहे हैं ? क्या तुम सचमुच में अनुभव करते हो कि संसार में इतना क्लेश, इतना अज्ञान तथा इतना कुसंस्कार है ? क्या सचमुच यह तुम्हारी धारणा है कि सब मनुष्य तुम्हारे भाई हैं ? क्या यह भावना तुम्हारे रोम रोम में व्याप्त है ? क्या यह तुम्हारे रक्त से मिल गयी है ? क्या यह तुम्हारी प्रत्येक नस में फड़कती है और क्या तुम्हारे शरीर की प्रत्येक शिरा तथा तन्तु में इसकी झंकार है ? क्या तुम सहानुभूति के विचारों से भरे हुए हो ? यदि तुम ऐसे हो तो जान लो कि तुमने केवल प्रथम सीढ़ी पर ही पदार्पण किया है । दूसरी बात तुम्हें यह सोचनी चाहिए कि इन सब के लिए क्या तुमने कोई उपाय भी दृढ़ निकाला है, या नहीं । पुराने विचार कुसंस्कार पर भले ही निर्भर हों, परन्तु इस कुसंस्कार में भी स्वर्णमय सत्य के कण

विद्वानान् हैं। सब अनावश्यक बातों को छोड़कर केवल उस स्वर्णरूपी सत्य को पाने के लिए तुमने कोई उपाय सोचा है? और यदि तुमने वैसा कर लिया है तो जान लो कि तुमने दूसरी सीढ़ी पर पैर रखा है। और एक चीज़ की आवश्यकता है—अटल अध्यवसाय। तुम्हारा असल अभिप्राय क्या है? क्या तुम्हें इस बात पर पूरा विश्वास है कि तुम्हें सम्पत्ति का प्रलोभन नहीं है, कीर्ति की लालसा नहीं है तथा अधिकार की आकांक्षा नहीं है? बास्तव में तुम्हें क्या विश्वास है कि चाहे सारा संसार भी तुम्हें नीचे गिराने की चेष्टा करे तो भी तुम अपने ध्येय के अनुसार ही कार्य करोगे? क्या तुम्हें यह विश्वास है कि जो कुछ तुम चाहते हो उसे अलीभांति जानते हो और चाहे तुम्हारे प्राणों पर भी बाजी लगी हो तो भी तुम केवल अपना कर्तव्य ही करते रहोगे? क्या तुम्हें अन्तःकरण से विश्वास है कि तुम्हारे जीवन के अन्तिम अण तक, जब तक तुम्हारे हृदय में धड़कन है तब तक तुम अपने उद्घोग में निरन्तर भिड़े रहोगे? यदि ये तीनों गुण तुममें हैं तो बास्तव में तुम एक सच्चे सुधारक, मार्गप्रदर्शक, गुरु एवं मनुष्यजाति के लिए वरदानस्वरूप हो। परन्तु मनुष्य कैसा उत्तावला तथा अदूरदर्शी है! वह थोड़ा भी धीरज नहीं रखता, उसमें प्रकृत दर्शन की शक्ति नहीं है—वह फल को तुरन्त ही देखना चाहता है, बास्तव में दूसरे पर सत्ता जमाना ही उसका अभिप्राय है। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि वह कार्य का फल स्वयं ही लेना चाहता है और यथार्थ में दूसरों की परवाह नहीं करता। केवल कर्म के लिए ही वह कार्य करना नहीं चाहता। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

‘तुम्हें केवल कर्म करने का ही अधिकार है; कर्मफल में

तुम्हारा कोई अधिकार नहीं ।”

कर्मफल में हम क्यों आसक्त हों ? केवल कर्म करना ही हमारा कर्तव्य है । कर्मफल के सम्बन्ध में हम तनिक भी चिन्ता क्यों करें ? परन्तु मनुष्य को क्षीर्य नहीं रहता । वह विचारपूर्वक न सोचकर मनमाना कोई भी काम करने लगता है । संसार के अधिकांश सुधारक इसी क्षेत्री में गिने जा सकते हैं ।

भारतवर्ष के पूर्वोक्त सुधार की विचारधारा से ऐसा प्रतीत होता था कि मानो जड़वाद की तरंग, जिसने भारतवर्ष पर आक्रमण कर दिया था, इस देश के प्राचीन आर्य ऋषियों की संस्कृति एवं शिक्षा को वहा देगी । परन्तु यह राष्ट्र इसके पहले ऐसी हृजारों विप्लवतरंगों की चोट सह चुना था, पर यह तरंग अतीत के तरंगों की अपेक्षा हल्की ही थी । एक लहर के बाद हूसरी लहर ने आकर देश को अपने में ढुका लिया था और सैकड़ों वर्षों तक ये लहरें देश को दबाती रही थीं । तलवारें अमकी थीं और ‘बल्लाहो अकबर’ के नारे से भारतवर्ष का आकाश गूँज उठा था । परन्तु धीरे-धीरे ये लहरें शान्त हो गयीं और राष्ट्रीय ध्येय पूर्ववत् बने रहे ।

भारतीय राष्ट्र कभी नष्ट नहीं हो सकता । यह अमर है और उम समय तक टिका रहेगा जब तक इनका धर्मभाव अक्षण्ण बना रहेगा, जब तक इस राष्ट्र के लोग अपने धर्म को ल्याग नहीं दंगे । चाहे वे भिखारी रहें अथवा निर्धन, चाहे वारिद्रथपीडित हों अथवा मैले और चिनौने हों, परन्तु वे अपने हँसवर का परित्याग कभी न करें और न यह भूलें कि वे

* कर्मच्येवाधिकारस्तं मा क्लेशु कदाचन ।

जूहितान्तर्मान है। जिस प्रकार पाश्चात्य में कोई भी साधारण मनुष्य अपना बंत किसी मध्यकालीन डाकुओं के बारबार 'बैरल' से दूँड़ निकालने का यत्न करता है, उसी प्रकार भारतवर्ष में एक सिहासनस्व सम्भाट भी अपने को किसी एक वरव्यानिवासी वस्कल-वस्त्रधारी, बंगल के फलमूल बानेवाले तथा ईश्वरस्वरूप में लीन जूहि का बंशधर प्रभाणित करने की चेष्टा करता है। हम ऐसे ही व्यक्तियों के बंशधर रूप में परिचित होना चाहते हैं और जब तक पवित्रता के ऊपर हमारी इन प्रकार गम्भीर अद्वा रहेगी तब तक भारत का विनाश नहीं है।

कायद तुममें से बहुतों ने 'नाइट्रीन सेंचुरी' नामक पत्र के अभी हाल के एक अंक में प्रोफेसर बैक्समूलर का सेव पढ़ा होगा जिसका शीर्षक या 'एक सच्चा महात्मा'। श्रीराम-कृष्ण का जीवन मनोरंजक है, क्योंकि उनका जीवन उनके द्वारा प्रचार किये 'हुए उपदेशों का एक जीता-जागता नमूना है। कायद यह तुम लोगों के लिए, जो पश्चिम में एक ऐसे बातावरण में रहते हों जो भारतवर्ष से विलकुल भिन्न है, किसी बंत तक नया प्रतीत होता हो। तुम्हारे यही अर्थात् पाश्चात्य जीवन का रहन-सहन भारतवर्ष के रहन-सहन से निरान्त भिन्न है। परन्तु फिर भी कायद यह विशेष मनोरंजक हो, क्योंकि इनमें बहुतसी ऐसी बातें नये दृष्टिकोण से देखी जायेंगी जिनके विषय में तुम कुछ न कुछ पहले ही सुन चुके होगे।

जब भारतवर्ष में बहुतसे नये सुधारों की चेष्टा हो रही

* एक बड़े जर्मन तस्वीरेता तथा संस्कृत के प्रकाश प्रिंट। इन्होंने प्राच्य संस्कृति का भी विशेष अध्ययन किया था।

भी उसी समय १८ फरवरी सन् १८३६ को एक निर्धन ब्राह्मण-
दम्पति के घर बंगाल के एक सुदूर गाँव में एक बालक पैदा हुआ।
बालक के माँ-बाप दोनों ही शास्त्रमार्गविज्ञानी एवं धर्मपरायण
थे। बास्तव में पुरानी रीति के अनुसार चलनेवाले धर्मपरायण
ब्राह्मण का जीवन नित्य त्याग का तथा तपस्यामय होता है।
वह जीविकोपार्जन के लिए इनेगिने उत्थोग ही कर सकता है
और इसके अरिरिक्त वह किसी लौकिक धनघे से सम्बन्ध तक नहीं
रख सकता। साथ ही साथ वह प्रत्येक का दिया हुआ दान भी
ग्रहण नहीं कर सकता। तुम अनुमान कर सकते हो कि इस
प्रकार का जीवन कितना कठोर है! तुमने ब्राह्मणों तथा उनके
पौराहित्य-सम्बन्धी कर्मों के बारे में बहुधा सुना ही होगा, परन्तु
तुम में से बहुत कम लोगों ने यह सोचा होगा कि ऐसा क्या कारण
है जिससे ये थोड़ेसे विलक्षण पुरुष अन्य मनुष्यों पर जासन कर
सकते हैं। देश के अन्य सब वर्गों की अपेक्षा ये निर्धन होते हैं,
परन्तु उनकी जाति का रहस्य उनके त्याग में ही छिपा हुआ है।
वे कभी सम्पत्ति-संचय की इच्छा नहीं करते। संसार भर में वे
सब से अधिक निर्धन पुरोहित हैं और इसीलिए सब से अधिक
शक्तिशाली। इतनी निर्धनता में भी एक ब्राह्मण की स्त्री किसी
गरीब बादमी को बिना कुछ खिलाये अपने गाँव से कभी नहीं
जाने देगी। भारतवर्ष में माता का यही सब से बड़ा कर्तव्य है कि
वह स्वयं सब के अन्त में भोजन करे। और वह सदा यह भी
ध्यान रखती है कि अन्य सब लोगों के भोजन से परितृप्त
होने के काद स्वयं भोजन करे। यही कारण है कि भारतवर्ष
में माता देवीस्वरूप मानी जाती है। जिन देवी का हम बर्णन
करेंगे, वे ठीक इसी प्रकार की एक बादतः हिन्दू माता थीं।

भारत में जो जाति विभिन्न उच्च होती है उसके उत्तरे ही अधिक बन्धन भी होते हैं। नीच जाति के सोन जो कुछ जाहे जा-यी सकते हैं, परन्तु समाज में तबपेक्षा जो उच्चतर जातियाँ हैं, उनके जाहार-ज्याहारादि के नियम भी कठोरतर हैं और उच्चतम जाति, भारत की बंसानुक्रमिक पुरोहित जाति ज्ञाहाण के जीवन में—जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ—सब से अधिक कठोर नियम हैं। पास्तात्य एहन-सहन की तुलना में इन ज्ञाहाणों का जीवन सतत तपस्यामय होता है। इनमें कूद दृढ़ता है। जब ये किसी एक भाव को ग्रहण कर लेते हैं तो विना उसकी चरण सीमा तक पहुँचे उसे नहीं छोड़ते और पीढ़ी दर पीढ़ी यही भाव कार्यरूप में परिणत होते रहता है। यदि कोई भाव ये अपने मन में बिठा लेते हैं तो फिर उनका परिवर्तन करना सरल नहीं होता, परन्तु इनसे कोई नया भाव ग्रहण करा लेना बड़ा कठिन है।

अतएव पुराणमताभिमानी हिन्दू बड़े संकीर्ण होते हैं और अपने संकीर्ण विचार एवं भाव की परिविष्ट में ही विवरण करते रहते हैं। जीवनयापन के सम्बन्ध में उनके प्राचीन ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तारपूर्वक लिखा गया है और वे इन सब विधि-नियेष्ठों की छोटी से छोटी बात तक को भी कटूरता के साथ पालन करने का प्रयत्न करते हैं। भूखों प्राण दे देंगे, परन्तु किसी ऐसे मनुष्य के हाथ का बनाया हुआ भोजन नहीं ग्रहण करेंगे जो उनकी जाति का नहीं है। यथापि वे इस तरह संकीर्ण हैं तो भी उनमें प्रगाढ़ श्रद्धा एवं आन्तरिकता है। प्रायः पुराणमताभिमानी हिन्दुओं में प्रवल विश्वास एवं धर्मभाव देखा जाता है, क्योंकि उनकी यह दृढ़ धारणा है

कि यह कहूरता ही सत्य है। सम्भव है इस सब उनसे इस सम्बन्ध में सहमत न हों, परन्तु उनका विश्वास है कि वह ठीक है। हमारे दूसरों में लिखा है कि मनुष्य को सदैव अति उच्च दर्जे का बानामील होना चाहिए। यदि कोई मनुष्य दूसरे आदमी की सहायता करने के लिए तबा उस आदमी की जान बचाने के लिए स्वयं भूखों ही मर जाय तो भी ठीक है और मनुष्य का कर्तव्य भी यही है। एक बाह्यण से यह जाका की जाती है कि वह इस व्येष का पालन अत्यन्त कड़ी रीति से करेगा। जो भारतवर्ष के साहित्य से सुपरिचित हैं, उन्हें इस अपूर्व दान के सम्बन्ध में एक सुन्दर पुरानी कथा याद आ जायगी। महाभारत में दर्शाया है कि एक कुटुम्ब का कुटुम्ब एक जिकारी को अपना अनितम ओजन देकर भूखों मर गया। यह अतिक्रयोक्ति नहीं है, क्योंकि ऐसी बातें जब भी होती रहती हैं। मेरे गुरुदेव के माता-पिता का स्वभाव बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। यद्यपि वे बहुत गरीब थे परन्तु फिर भी मेरे गुरुदेव की माता अक्सर किसी गरीब आदमी की सहायता करने के लिए स्वयं दिनभर भूखी रह जाती थीं। उन्हीं माता-पिता के घर में इस बालक ने जन्म लिया और बचपन में ही यह बालक कुछ विलक्षण-सा था। अपने पूर्वजन्म का संस्मरण उसे जन्म से ही था तथा वह इस बाल को अलींगाति बानहा था कि इस संसार में उसने किस उद्देश्य से जन्म लिया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उसने अपनी सर्व जक्षित जना दी।

बब वह बालक विलक्षण छोटा था, तभी उसके पिता का देहान्त हो गया और वह नड़का फिर पाठ्याला भेजा गया। बाह्यण के नड़के को पाठ्याला बबस्य जाना चाहिए, क्योंकि व्यातिक्रम के बनुतार उसको केवल पढ़ने-लिखने का ही

कार्य करना चाहिए। भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षापद्धति, जो आवाक्षण की देख में कई बगह प्रभालित है और विशेषतः संन्यासियों के सम्बन्ध की शिक्षापद्धति, आधुनिक शिक्षा से बहुत भिन्न है। विद्यार्थियों को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था, क्योंकि ऐसा सोचा जाता था कि ज्ञान बहुत पवित्र है और किसी मनुष्य को इसे बेचना नहीं चाहिए। शिक्षादान निःशुल्क तथा उदारता-पूर्वक दिया जाना चाहिए। गुरुजन शिष्यों को निःशुल्क भरती करते थे और इतना ही नहीं, बल्कि उनमें से अधिकारी अपने शिष्यों को भोजन और वस्त्र भी देते थे। इन गुरुजनों की सहायता के लिए रईस घराने विवाह-संस्कार, श्राद्ध-संस्कार आदि कई शुभ अवसरों पर इनको दान-दक्षिणा देते थे। ये गुरुजन कुछ विशेष प्रकार की दानदक्षिणा के सर्वप्रथम अधिकारी समझे जाते थे और ये उसके बदले में अपने छात्रों का पालन-पोषण करते थे। अतः जब कभी कोई विवाह-संस्कार होता है, और विशेषकर रईस घराने में, तो ये गुरुजन आमन्त्रित किये जाते हैं, और ये सम्मिलित होते हैं तथा उस अवसर पर उनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा होती है। एक बार यह बालक गुरुजनों के सम्मेलन में जा पहुंचा। गुरुजन उस समय तक जास्त, ज्योतिष आदि भिन्न भिन्न विषयों पर, जो इस बालक की अवस्था के अनुसार अस्पृश्य गहरा एवं गूढ़ विषय थे, बहस कर रहे थे। जैसा ये पहले ही कह चुका हैं, यह बालक बड़ा विलब्ध था और उसने इस विवाह से यह सार निकाला कि इनके कोरे पुस्तक-सम्बन्धी ज्ञान का फल यह बाद-विवाह है। ये सब इतनी बुरी तरह से क्यों लड़ रहे हैं? यह केवल धन के लिए ही है, क्योंकि जो मनुष्य यहाँ अपनी शिद्धता सब से अधिक दिया रक्षणा, वही वस्त्र की सब से

बच्छी जोही पायेगा और यही व्येष है जिसके लिए वे लड़ रहे हैं। अतः उसने सोचा कि अब मैं पाठ्याला विषयकुल नहीं जाऊँगा और सचमुच वह नहीं गया और यही उसके पाठ्याला के जीवन का अन्त था। परन्तु इस बालक का एक बड़ा भाई भी था जो बड़ा विहान् था। बड़ा भाई इस बालक को अपने साथ पढ़ाने के लिए कलकत्ता ले गया। कुछ समय बाद बालक को वह दूढ़ विश्वास हो गया कि सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का व्येष अधिकाधिक सम्पत्ति संचय करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उसने इस प्रकार की शिक्षा को छोड़ देने तक अपने को केवल आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तन-मन से संग्रह देने का निश्चय किया। पिता के मर जाने से कुटुम्ब बहुत गरीब हो गया था और इस बालक को अपनी जीविका का प्रबल्ल्य स्वयं करना पड़ता था। वह कलकत्ते के सभीप एक जगह गया और वही एक मन्दिर का पुजारी हो गया।

किसी मन्दिर में पुरोहिती करना एक ब्राह्मण के लिए बड़ा निवनीय कर्म होता है। हमारे मन्दिर तुम्हारे गिरजाघरों के समान नहीं होते। वे सामाजिक उपासना के स्थान नहीं हैं, क्योंकि वह सच पूछा जाय तो भारतवर्ष में सामाजिक उपासना जैसी कोई चीज ही नहीं है। मन्दिर बहुधा धनी लोगों द्वारा ही एक धार्मिक सलकृत्य की दृष्टि से बनवाये जाते हैं। यदि किसी मनुष्य के पास बहुतसा धन होता है तो वह एक मन्दिर बनवाने की इच्छा करता है। उस मन्दिर में वह ईश्वर का कोई प्रतीक अथवा ईश्वरावतार की कोई मूर्ति स्थापित करता है और ईश्वर के नाम पर पूजा करने के लिए उस मन्दिर को खोल देता है। यह पूजा बहुत-कुछ रोमन-

कैवलिक गिरिजियों की 'आस' नामक पूजा के समान होती है जहाँ पवित्र धार्मिक ग्रन्थों से कुछ वाक्य पढ़े जाते हैं तथा मूर्ति के सामने आरती की जाती है और मूर्ति की उसी प्रकार प्रतिष्ठा होती है जैसे महान् पुरुष की । मन्दिरों में केवल इतना ही होता है । यह आवश्यक नहीं है कि मन्दिरों में जानेवाला कोई पुरुष मन्दिर-में जाने के कारण ही किसी दूसरे मन्दिर में न जाने-वाले पुरुष की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ समझा जाय । वास्तव में बात तो यह है कि पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक धार्मिक समझा जाता है, क्योंकि भारतवर्ष में धर्म प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत कार्य है । भारतवर्ष में प्रत्येक मनुष्य के बर में या तो एक छोटासा देवतार होता है अथवा कहीं एक और एक स्वतन्त्र कमरा होता है, जहाँ वह व्यक्ति सायं-प्रातः जाता है और एक कोने में बैठकर स्वयं की आध्यात्मिक उत्तरि के लिए ध्यान-पूजा करता है । यह पूजा पूर्ण रूप से मानसिक ही होती है, क्योंकि दूसरा मनुष्य इसके बारे में न सुन सकता है और न जान ही सकता है । वह केवल उस पुरुष को वही बैठा हुआ ही देखता है और जायद एक विशेष रूप से अपनी उंगलिया चलाते हुए तथा अपने नाजुने बन्द कर एक विशेष प्रकार से ऊंच लेते देखता है । इसके अतिरिक्त वह नहीं जानता है कि वह मनुष्य क्या कर रहा है, यही तक कि जायद उस पुरुष की स्त्री भी कुछ नहीं जान सकती । इस प्रकार सारा ध्यान-मूलन उसके बर में ही एकान्त में होता है । जो मनुष्य अपना देवतार नहीं बना सकते हैं, वे एक जलीय या ज्ञीन के किनारे अथवा यहि वे समुद्र के सलीप रहते हैं, तो समुद्र के किनारे ही ध्यान-मूलन करने के लिए जले जाते हैं । कुछ

लोग कभी कभी किसी मन्दिर में भी प्रणाम, पूजा आदि करने के लिए जाते हैं। हमारे देश में बहुत प्राचीन समय से मनु के कथनानुसार किसी मन्दिर में पुरोहिती करना एक हीन व्यापार समझा जाता है। कुछ चर्चाओं का यह भी मत है कि यह कार्य इतना नीचे दर्जे का होता है कि इसके कारण एक ब्राह्मण निन्दनीय भी हो सकता है। जैसे शिक्षा के सम्बन्ध में पैसा लेना दोषास्पद माना जाता है, उसी प्रकार उससे कहीं अधिक परिमाण में धार्मिक सम्बन्ध में पैसा लेना दूषित है, ज्योंकि मन्दिर के पुरोहित जब पैसा लेकर कार्य करते हैं, तब वे इस पवित्र कार्य को बाजारी बस्तुओं के क्रघिकार का रूप दे देते हैं। अतः तुम उस बालक के उस समय के हार्दिक भावों का अनुमान कर सकते हो कि जब निर्वनता के कारण जीविका के लिए उसे पुजारी-पद यहां करना पड़ा था, ज्योंकि उसको केवल यही कार्य आसानी से प्राप्य था।

बंगाल में ऐसे बहुतसे कवि हो गये हैं, जिनके पद पीढ़ी दर पीढ़ी गांये जाते हैं। उनका गान कलकर्ते की गलियों तथा प्रत्येक नीव में होता है। इनमें से अधिकतर गीत धार्मिक हैं और इनका मूल्य भाव जो कि भारतवर्ष के सब धर्मों की विशेषता है, ईश्वर-प्राप्ति है। भारतवर्ष में कोई धार्मिक धर्म ऐसा नहीं है जिसमें ये भाव प्रमुख न हों। मनुष्य को ईश्वर प्राप्त करना चाहिए, ईश्वर का अनुभव करना चाहिए, ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिए, तथा उससे बातचीत करनी चाहिए—यही धर्म है। भारतवर्ष में यहाँ-तहाँ बहुतसे ऐसे साधु-सन्तों के प्रकरण विलते हैं जिन्हें ईश्वर का साकात्कार हुआ है। इसी प्रकार के उच्च तत्त्व उनके धर्म के आधार हैं और ये सब प्राचीन धर्मादि उन महामुद्धीरों के हैं जिन्हें जाग्यात्मिक सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है। ये पुस्तकें कोरे

बुद्धिमानों के लिए नहीं लिखी गयी हैं और न तरफ़ की वहाँ तक पहुँच ही है, क्योंकि ये पुस्तकें ऐसे महापुरुषों द्वारा लिखी गयी थीं जिन्होंने उन बातों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था; और वे सब बातें केवल उन्हीं पुरुषों द्वारा समझी जा सकती हैं जो उस आध्यात्मिक उच्च अवस्था को पहुँच गये हैं। इन प्रम्पकारों का कहना है कि इसी जीवन में ईश्वर प्राप्त हो सकता है और वह भी प्रत्येक मनुष्य को, और इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक प्रकार की जानित है और इस जानित का विकास होने पर धर्म का आरम्भ होता है। सब धर्मों का यही एक केन्द्रीय धारा है। यही कारण है कि कभी कभी हम किसी ऐसे मनुष्य को पाते हैं जो असाधारण बहस्तृत्य-जानित तथा सुन्दर तर्कशास्त्र की योग्यता रखते हुए उच्चतम तर्फों का प्रचार करता है, परन्तु फिर भी उसको बोलाना ही नहीं मिलते। परन्तु हूसरी ओर हम यह देखते हैं कि एक अस्यन्त सामान्य मनुष्य, जो शायद अपनी मातृभाषा भी कठिनता से बोल सकता है, अपने ही जीवनकाल में ज्ञानभव आधे राष्ट्र के लिए देवतानुत्त्य पूजनीय हो जाता है। जब भारत-धर्म में किसी प्रकार से यह बात दूर तक फैल जाती है कि अनुक भगव्य को ज्ञात्यकान प्राप्त हो गया है, उसे धार्मिक सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है तथा उसके लिए धर्म और जात्या का अमररत्न और ईश्वर आदि विषय जटिल नहीं रह गये हैं, तो तमाज स्थानों से लोग उसके धर्मन करने आते हैं और और और उसकी देवता के समान पूजा करने लगते हैं।

जिस भवित्व में यह जातक पूजा करता था, उनमें जानवर-मध्यी जगत्यात्मा की एक मूर्ति थी। इस जातक को जान्याजान पूजन करनी चाही और और और उसके मन में ईश्वर लिपार-

ने विदिकार जमा लिया कि “क्या इस भूति में किसी का बास है ? क्या यह सत्य है कि इस संसार में आनन्दमवी जगम्भाता है ? क्या यह सत्य है कि इस विश्व का सारा व्यवहार वे चलाती है ? अबका यह सब स्वप्नवत् ही है ? क्या धर्म में बास्तव में सत्त्वता है ?” इस प्रकार के तर्क-विवर्तक हिन्दू बालक के मन में उठते हैं । इस प्रकार का सन्देह कि ‘जो कुछ मैं कर रहा हूँ क्या वह बास्तव में सच है ?’—हमारे देश का विजेषत्व है; साथ ही साथ परमेश्वर-सम्बन्धी तथा आत्मासम्बन्धी कल्पनाओं से हम सन्तुष्ट नहीं होते, यद्यपि इस प्रकार की कल्पनाएँ हमारे सामने सर्वदै रहती हैं । केवल ग्रन्थों तथा कोरे मत-प्रतिपादन से हमें कभी सन्तोष नहीं होता, परन्तु धर्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि ही हमारा एकमात्र सत्य है । प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर का अस्तित्व सत्य है, और यदि है तो क्या उसे मैं देख सकता हूँ ? क्या मुझे सत्य की प्रत्यक्ष उपलब्धि हो सकती है ? पाश्चात्य को ये सब बातें ज्ञायद व्यवहार्य न ज्ञेय, परन्तु हम लोगों के लिए तो ये निरान्त ग्रियात्मक हैं, और इसके निमित्त हम अपना जीवन भी समर्पण करने को तैयार हैं । आप लोगों ने अभी सुना है कि अतीत काल से ही भारत में ऐसे अनेक महापुरुष हो गये हैं जिन्होंने इस आशर्त के लिए अपने सब सुख-साध का त्याग कर दिया और जो आकर गुफाओं में रहने लगे; सैकड़ों ने अपना घर-द्वारा छोड़ दिया और पवित्र नदियों के किनारे अनेकों यातनाएँ सहीं । ये सब कष्ट केवल उस आशर्त की अनुभूति के लिए ही थे । यह सब उन्होंने न तो केवल साधारण ज्ञान के लिए किया, न बौद्धिक ज्ञान के लिए, न सत्यवस्तु की तर्कपूर्ण जानकारी के लिए और न भौतिक वैज्ञानिकी के लिए ही, बरत् इस बात के लिए कि हमें अपनी

इनियों हारा यह संसार चितना प्रत्यक्ष प्रतीक होता है उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष हमें सत्य का अनुभव हो जाय। मेरे कहने का अधिकार यही है कि केवल यही एक भाव वा जिसका असर उनके मन पर अति प्रबल रूप से पड़ा वा। ध्येय-साधन के लिए हमारे देश में हजारों मनुष्य वे ह त्याग जुके थे और हजारों तैयार थे। अतः इसी एक भाव के हेतु हजारों बदों से सारे राष्ट्र ने प्रचल्य स्वार्थत्याग किया तथा अपने प्राण अपेण किये। इसी आदर्श के लिए प्रत्येक वर्ष हजारों हिन्दू गृहत्याग करते हैं और उनमें से बहुतसे उसके निमित्त कठिनाइयाँ सहते सहते भर तक जाते हैं। पाण्डात्य सोगों को ये सब बातें मृगतृष्णा के समान मासूम पड़ती हैं और इस वृद्धिकोण का कारण भी में समझ सकता हूँ; परन्तु यद्यपि मैं पश्चिमी देशों में भी रहा हूँ तो भी मेरा यही विश्वास है कि यह भाव हमारे जीवन में सर्वाधिक सत्य एवं साध्य है।

मैं चितनी देर इस सत्य वस्तु के अतिरिक्त कभी किसी दूसरी बात पर विचार करता हूँ तो मैं यही सोचता हूँ कि मेरा उतना ही नुकसान हुआ है। संसार के अद्भुत विज्ञान-सम्बन्धी आविष्कार भी मेरे लिए हितकर नहीं हैं, क्योंकि मेरी यह भावना है कि जो जो बातें मुझे इस सत्य से दूर हटाती हैं, वे सब मेरे लिए व्यर्थ हैं। चाहे तुम एक देवदूत के समान ज्ञानी हो अबका एक पक्षु के समान ज्ञानी हो, प्रत्येक दशा में यह जीवन ज्ञान-भंगुर है; चाहे तुम एक फटे-पुराने कपड़ोंवाले मनुष्य के समान गिर्वान हो अबका तुम्हारे पास धन-कुबेर की सम्पत्ति हो तो भी जीवन ज्ञानभंगुर है; चाहे रास्ते में भटकनेवाले किसी साधारण मनुष्य के समान तुम्हारी दुर्दशा हुई हो अबका तुम जातों पर राज्य करनेवाले सम्भाट हो, परन्तु जीवन ज्ञानभंगुर ही है; चाहे

तुम अत्यन्त स्वस्य अववा दुर्बल से भी दुर्बल हो, तिस पर भी जीवन क्षणभंगुर ही है; और चाहे तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त नम्र और जीलवान हो अववा कूर हो, जीवन प्रत्येक दक्षा में क्षण-भंगुर ही है। हिन्दुओं के अनुसार जीवनसमस्या की एक ही वीमांसा है और वह है ईश्वर तथा धर्म-लाभ। यदि ईश्वर और धर्म को सत्य मान लिया जाय, तभी जीवन का वर्ष स्पष्ट हो जाता है, जीवन निवाहने योग्य तथा आनन्दमय हो जाता है, और नहीं तो वह बोझ के सदृश ही रहता है—यह हमारी दृढ़ धारणा है। तर्क से ईश्वर और धर्म नहीं दर्शाये जा सकते, उससे अधिक से अधिक यही बतलाया जा सकता है कि वे सम्भव हैं। ज्ञान के किसी क्षेत्र के उच्च से उच्च बुद्धिवाद द्वारा किसी वस्तु का अस्तित्व केवल 'सम्भव' ही बतलाया जा सकता है, पर इससे अधिक नहीं। भौतिकशास्त्र द्वारा स्पायित अनेक सिद्धान्त 'सम्भव' ही कहे जा सकते हैं, सत्य नहीं। किसी भी बात की सत्यता उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि पर ही प्रतिष्ठित है। उसी प्रकार धर्म और ईश्वर को सत्य मानने के लिए हमें उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। स्वयं का अनुभव ही हमें इन बातों की सत्यता सिद्ध करा सकता है—तर्क-वितर्क अववा अन्य कोई चीज नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव ही हमारे विश्वास को पर्वत के समान दृढ़ बना सकता है। और ऐसी ही मेरी तथा अन्य भारतवासियों की धारणा है।

यही धारणा उस बालक के मन में समा गयी और उसने अपनी सारी जीवनशक्ति इसी भावना पर केन्द्रीयता कर दी। दिन पर दिन वह रोता और कहता, 'हे जगन्माता ! क्या वह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है, अववा यह सब काल्पनिक ही है ?'

आनन्दमयी माता वास्तव में है या कवियों की केवल कपोल-कल्पना तथा भटके हुए लोगों का भ्रम ही है ? हम यह देख चुके हैं कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं अथवा जिन पुस्तकों को हम पढ़ते हैं, उन सब का ज्ञान इस बालक को नहीं था । इस बालक का मन सहज ही सरल एवं निष्पाप था । उसकी विचारणाली भी बड़ी पवित्र थी और इसका कारण यह था कि दूसरे के विचारों की विज्ञप्ति न होने के कारण उन विचारों का प्रभाव उसके मन पर नहीं पड़ा था । उसने विश्वविद्यालय में प्रवेश नहीं किया था, अतएव वह स्वयं विचार कर सकता था । चूंकि हम लोगों ने अपना आधा जीवन विश्वविद्यालयों में बिता दिया है, अतः हमारा मन दूसरों के विचारों से भर गया है । प्रोफेसर मैक्समूलर के जिस लेख का मैंने अभी बर्णन किया है, उसमें उन्होंने ठीक ही कहा है कि मेरे गुरुदेव का विचार स्वच्छ एवं यीलिक ही रहा था और इसका कारण यह था कि वे विश्वविद्यालय के सम्पर्क में नहीं रहे हुए थे । धीरे धीरे यह विचार जो उनके मन में सब से प्रबल था कि 'क्या ईश्वर देखा जा सकता है' दृढ़ होने लगा, यहाँ तक कि वे और किसी बात के बारे में सोच ही नहीं सकते थे—यहाँ तक कि वे ठीक तौर से पूजा भी नहीं कर सकते थे और उससे सम्बन्धित अनेक विषयों पर भी ध्यान नहीं दे सकते थे । बहुधा वे जगन्माता की मूर्ति के सम्मुख नैवेद्य रखना भी भूल जाते थे और कभी कभी वे चष्टों आरती ही उतारा करते थे तथा उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ उन्हें विस्मरण हो जाता था ।

प्रत्येक समय एक विचार उनके मन में रहा करता था और वह था, 'हे माता ! क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है ? किर तुम बोलती क्यों नहीं हो ? क्या तुम जीवित नहीं हो ?'

यहाँ पर जायद हममें से कुछ लोग यह स्परण कर सकेंगे कि हमारे जीवन में कुछ ऐसे अवसर अवस्थ जाते हैं जब हम नीरस तरफ़-वितर्क तथा पुस्तकों को पढ़ते पढ़ते बक जाते हैं—क्योंकि आखिर ये पुस्तकें हमें कुछ अधिक नहीं सिखातीं और इनका पढ़ना भी अफीम जाने के समान केवल मानसिक असन ही हो जाता है। इस प्रकार इन सब बातों से बककर एवं विचलित हो जायद से एक हूँक निकलती है, 'क्या इस विश्व में कोई ऐसा नहीं है जो हमें प्रकाश दिखा सके ? अतः हे माता ! यदि तुम हो, मुझे प्रकाश दिखाओ । तुम बोलती क्यों नहीं ? तुम ऐसी अप्राप्य क्यों बनती हो ? तुम अपने इतने दूरों को क्यों भेजती हो और स्वयं क्यों नहीं आती ? इस कलह-कलेश एवं पक्ष-विपक्ष के संसार में मैं किसका अनुसरण तथा विश्वास करूँ ? यदि तुम प्रत्येक स्त्री-मुरुग की ईश्वर हो तो तुम स्वयं अपने बच्चे से बोलने क्यों नहीं आती और क्यों नहीं देखती कि वह छटपटाता हुआ तुम्हारे दर्शन करने को उत्सुकतापूर्वक तैयार है या नहीं ?' ऐसे विचार हम सभी के मन में उठते हैं, परन्तु कद ?—जब हमें तीद मानसिक कलेश होता है ! पर दूसरे ही काण हम उन्हें भूल जाते हैं क्योंकि हमारे चारों ओर अनेकों भोहरूपी जाल हैं। कुछ काण के लिए हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे लिए स्वर्ग का द्वार चूज जायगा और ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वर्गीय विष्य प्रकाश में तन्मय हो जायेंगे, परन्तु फिर जोड़ी देर बाद हमारा पाश्विक अंश हमें इन दैबी दृश्यों से दूर पटक देता है। हम फिर पशु के समान नीच दक्षा को पहुँच जाते हैं और जाने, पीने, मरने, जाम्ब लेने और फिर जाने पीने में अस्त हो जाते हैं। परन्तु कुछ जसाधारण पुरुष ऐसे होते हैं कि उनके सामने जाहे कितने भी

प्रसोजन क्यों न हों, पर यदि उनका मन एक बार ज्येय की ओर आकर्षित हो गया तो फिर वह मायाजाल द्वारा इतनी सरलता से विचलित नहीं होता, क्योंकि वे सत्यस्वरूप परमेश्वर के दर्शन करने के इच्छुक होते हैं और यह भलीभांति जानते हैं कि यह जीवन नाशवान है। उनका यही मत रहता है कि उच्च प्रकार की विजयप्राप्ति के लिए यदि मरना हो तो बत्युत्तम है और बास्तव में पाश्चात्यिक अंत के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने तथा अन्म-मरण के प्रश्न को सुलझा लेने और अच्छे तथा दुरे के बीच में भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेने की अपेक्षा और अधेष्ठ ही ही क्या ? अस्तु—

अन्त में उस बालक के लिए उस मन्दिर में काम करना असम्भव हो गया। उसने वह मन्दिर छोड़ दिया और समीपवर्ती एक छोटेसे जंगल में चला गया और वहीं रहने लगा। अपने जीवन की इस अवस्था के सम्बन्ध में मेरे गुरुदेव ने मुझसे कई बार चर्चा की थी और वे यह भी कहते थे कि उन्हें यही ज्ञात नहीं रहता था कि सूर्योदय तथा सूर्यास्त कब हुआ तथा वे किस प्रकार वहाँ रहे। वे अपने स्वयं के बारे में सब विचार भूल गये थे, यहाँ तक कि भोजन करने का भी उन्हें ध्यान नहीं रहता था। इस समय उनके एक सम्बन्धी ने बड़े प्रेमपूर्वक उनकी देखभाल की और वह उनके मुँह में भोजन ढाल दिया करता था जो वे केवल निगल सेते थे।

इसी प्रकार इस बालक के कितने ही दिनरात बीत गये। जब एक पूरा दिन बीत जाता था और सन्ध्यासमय मन्दिरों से चण्डियों की आकार तथा भजनों की गूंज इस बालक को बन में सुनायी देती थी, तो वे बड़े हुँवित हो कलपते हुए यह चिल्लाने

समझते थे, 'हे माता ! आज का भी एक दिन व्यर्थ गया और तूने दर्शन नहीं दिया—इस छोटेसे जीवन का एक दिन और अतीत हो गया, परन्तु फिर भी मुझे इश्वरज्ञान नहीं हुआ ।' इस हार्दिक वेदना के कारण वे कभी कभी अपना मुँह जमीन पर रगड़ डालते और बिलखते बिलखते उनके मुँह से यह प्रार्थना निकल पड़ती थी, 'हे जगन्माता ! तुम शीघ्र प्रकट हो जाओ—देखो मैं तुम्हारे लिए कैसा तड़प रहा हूँ—मुझे और कुछ नहीं चाहिए ।' बास्तव में वे अपने ध्येय में एकनिष्ठ थे। उन्हें यह मालूम था कि जब तक जगन्माता के लिए सर्वस्वत्याग नहीं किया जाता तब तक वे दर्शन नहीं देतीं। यह भी जानते थे कि जगन्माता प्रत्येक को दर्शन देना चाहती हैं, परन्तु लोग ही दर्शन नहीं चाहते—वे तो सर्व प्रकार के आनन्दभोग के ही इच्छुक होते हैं, परन्तु जगन्माता के दर्शन के नहीं, और जिस समय वे पूर्ण तन-भन से उसके लिए छटपटायेंगे और अन्य किसी बस्तु के लिए नहीं, बस उसी समय श्रीजगदम्बा उन्हें अवश्य दर्शन देंगी। अतः वे उस भावना में तदूर्घ होने का यत्न करने लगे और 'उन्होंने ध्येयसाधन के नियमों का भी पूर्ण रूप से पालन करने का निश्चय किया। उनके पास जो कुछ थोड़ी-बहुत सम्पत्ति थी, वह सब उन्होंने छोड़ दी और धन कभी न छूने का प्रण कर लिया। यह विचार कि 'मेरे धन कभी नहीं छुकेंगा' उनके शरीर का मानो एक अंग ही हो गया। सम्भव है, यह बात तुम सभी को कुछ गूढ़-सी जान पड़े, परन्तु निद्रावस्था में भी यदि मैं उनके शरीर को किसी सिक्के से छू सेता था तो उनका हाथ ही टेढ़ा हो जाता था और उनका शारा शरीर ऐसा प्रतीत होता था मानो जकड़ा मार गया हो ! तूसा विचार जो उनके मन में उत्पन्न हुआ वह यह था कि 'काम-

आसना दूसरा जन्म है।' मनुष्य वस्तुतः आत्मस्वरूप है और वह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष। उन्होंने सोचा कि काम तथा कांचन ही ऐसे दो कारण हैं जो जगन्माता के दर्शन नहीं होने देते। साथ विश्व जगन्माता का ही रूप है और वह प्रत्येक नारी के लालीर में आस करती है। प्रत्येक नारी जगन्माता का रूप है, अतः किसी नारी को स्त्री-भाव से मैं कैसे देख सकता हूँ? यह विचार उसके मन में पूर्ण रूप से जम गया था। प्रत्येक नारी हमारी माता है तथा हमें उस बवस्था में पहुँच जाना चाहिए जब कि प्रत्येक नारी में केवल जगन्माता का ही स्वरूप दिखे; और यह व्येय उन्होंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से निवाहा।

ईश्वरदर्शन-सम्बधी यह छटपटाहट मनुष्य के हृदय को बढ़े और से पकड़ लेती है। बाद में उन्होंने एक बार मुझसे कहा, "मेरे बच्चे, मान सो एक कमरे में सोने का एक बैला रखा है और उसके पास ही दूसरे कमरे में एक चोर है, तो क्या तुम सोच सकते हो कि उस चोर को नींद जायगी? नहीं, कहापि नहीं—उसके मन में लगातार यह उथल-पुथल मच्छी रहेगी कि मैं उस कमरे में कैसे पहुँचूँ तथा उस सोने को कैसे पाऊँ। इसी प्रकार क्या तुम सोच सकते हो कि जिस मनुष्य की यह दृढ़ धारणा हो गयी कि इस जांया के प्रसार के पीछे एक अविनाशी, अवश्य, आनन्दमय परमेश्वर है जिसके सामने इन्द्रियों का सुख कुछ भी नहीं है, तो उस परमेश्वर को प्राप्त किये बिना वह मनुष्य चुपचाप बैठ सकता है? क्या वह अपने प्रथल क्षणमर के लिए भी स्वयंगत कर सकता है? कहापि नहीं—असहा छटपटाहट के कारण वह पागल हो जायगा।" वह इसी दैवी विचार में वह बालक तन्मय हो गया। उस समय उसके लिए जारीप्रदर्शक कोई न था, कोई उससे बालचीत करनेवाला भी न

वा और तब यही समझते थे कि वह बालक पागल हो गया है । परन्तु यह अनुभूति की साधारण गति है । यदि कोई यनुष्य सांसारिक दोन आदि का स्थान कर देता है तो लोग उसे पागल कहते हैं, परन्तु ऐसे ही पुढ़व समाज को जीवनशक्ति देनेवाली संजीवनी होते हैं । ऐसे ही पागलपन से शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं जिन्होंने इस संसार को हिला दिया है, और ऐसे ही पागलपन से अविष्य में ऐसी अविष्यों का जन्म होगा जो हमारे संसार में उत्पन्न-पुण्यता मचा देंगी ।

इस प्रकार सत्यलाभ के लिए उस बालक को छटपटाते अनेक दिन, सप्ताह तक यहीने अतीत हो गये । अब उस बालक को विविध प्रकार के दर्शन होने लगे, नाना प्रकार के दृश्य दिखाने लगे तथा वहने स्वभाव के अनेक रहस्य प्रकट होने लगे । ऐसा प्रतीत होता था कि मानो एक परदे के बाद दूसरा परदा हटाया जाने लगा हो । प्रत्यक्ष जागन्माता ने ही युद्धस्थान प्रहण किया और उन्होंने उस बालक को उसके अन्वेषित सत्यप्राप्ति के साधन में दीक्षित किया । इसी समय उस स्थान पर अद्वितीय विद्वत्तावाली एक सुन्दर स्त्री आ पहुँची । इस स्त्री के विषय में भेरे गुहदेव कहा करते थे कि वह केवल विद्वान् ही नहीं थी, बरन् विद्वत्ता की साक्षात् शूर्ति थी; उसमें मानो ज्ञान स्वयं मानवरूप भारण करके प्रकट हुआ था । इस बात में भी तुम्हें भारतवर्ष का वैशिष्ट्य प्रतीत होगा । साधारणतः हिन्दू स्त्री अशिक्षित होती है, तथा जिस स्थिति को पास्वात्य देख में परतन्त्रता कहते हैं उसी स्थिति में परमोच्च आध्यात्मिक भाव-सम्पन्न इस स्त्री का आविभवि हुआ था । वह एक संन्यासिनी थी, क्योंकि भारतवर्ष में लियाँ भी संसार स्थान कर देती हैं, अपनी सब सम्पत्ति को तिलाजनि दे देती हैं, विवाह नहीं करतीं तथा अपना सारा जीवन ईश्वरसेवा में ही अर्पण कर देती हैं । यह स्त्री

यहाँ आयी और इस बालक के बारे में यह यह मुना कि वह पागल में रहता है तो उसने उसके पास जाने तथा उससे मैट करने की इच्छा प्रकट की । इसी स्त्री से उस बालक को सर्वप्रथम सहायता मिली । फौरन ही यह स्त्री उस बालक के क्लेश का रहस्य ताढ़ गवी और उसने कहा, " मेरे बेटे, यह पुरुष धन्य है जिसके ऊपर इस प्रकार का पागलपन आये—जैसे तो सारा संसार ही पागल है; कोई धन के लिए, कोई सुख के लिए, कोई कीर्ति के लिए और कितने ही लोग अन्य सैकड़ों बस्तुओं के लिए, कुछ लोग सोना पाने के लिए, कोई पति के लिए, कोई स्त्री के लिए तथा अन्य छोटी छोटी बातों के लिए अबवा दूसरों पर जुल्म करने के लिए या स्वयं श्रीमान् बनने के लिए, अनेकानेक मूर्खता की बातों के लिए पागल रहते हैं, परन्तु ईश्वर ही के लिए वे पागल नहीं होते । यदि कोई मनुष्य धन के लिए पागल होता है तो वे उसके प्रति सहानुभूति दबाते हुए समझाव रखते हैं और उसे ठीक समझते हैं । उनकी यह भावना इसी प्रकार की होती है जैसे एक पागल मनुष्य यह समझता है कि संसार में उसके समान अन्य पागल लोग ही ठीक दिमाग नाले हैं । परन्तु यदि कोई मनुष्य ईश्वर के प्रति पागल है तो वे उसे कैसे समझ सकते हैं? वे वह विचार करने लगते हैं कि उसका सिर चूम गया है और कहते हैं कि उससे अलग ही रहना चाहिए । यही कारण है कि वे तुले पागल कहते हैं; परन्तु तेरा ही पागलपन ठीक है । वह पुरुष धन्य है जो ईश्वरप्रेम के कारण पागल हो—ऐसे मनुष्य बहुत ही बोड़े होते हैं ।" यह स्त्री उस बालक के पास कई बर्बादी तक रही और उसने उसे भारतवर्षी सी विभिन्न धर्मप्रणालियों के साधन सिखायाये, अनेक प्रकार के योगसाधनों की दीक्षा दी और उसमें व्याप्त प्रशंसन धर्मज्ञोत को

नियमित तथा प्रणालिकद कर दिया ।

कुछ दिनों के बाद वहाँ एक विद्वान् तथा तत्त्वज्ञानी सन्यासी आये । वे एक असाधारण पुरुष थे और उनका मत था कि जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह सब मिथ्या है । वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि संसार का अस्तित्व वास्तविक है और लोगों को यह प्रमाणित करने के लिए वे कभी छत के नीचे नहीं रहते थे । चाहे घनघोर बर्फ हो अथवा कड़ी छूप, वे सदा छुले में ही रहते थे । वे संन्यासी उस बालक को बेदान्त सिखालाने लगे और शीघ्र ही अत्यन्त आश्चर्यजनक बात जो उन्हें मालूम हुई वह यह थी कि उनका शिष्य कुछ विषयों में अपने गुरु से भी बड़ा-बड़ा है । वे संन्यासी उस बालक के साथ कई महीने रहे और उसके बाद उसे संन्यास-मार्ग की दीक्षा देकर उन्होंने प्रस्थान किया ।

जब वह बालक मन्दिर का पुजारी था, उस समय उसकी विचित्र प्रकार की पूजा देखकर लोगों को भ्रम हुआ कि इसके मस्तिष्क में कुछ हेर-फार हो गया है, और इसलिए उसके कुटुम्बी उसे घर लिवा ले गये और उसका विवाह एक छोटीसी कन्या से यह सोचकर करा दिया कि शायद इस रीति द्वारा ही इसके विचार किर पलटकर पूर्ववत् ठीक हो जायें । परन्तु यह बालक विवाह के उपरान्त घर पर न रहकर फिर अपने काम पर बापस आ गया और पूर्ववत् अपने विचारों में अधिकाधिक तन्मय हो गया । कभी कभी हमारे देश में लड़कों का विवाह बचपन में ही हो जाता है और उस सम्बन्ध में उनकी कोई राय नहीं ली जाती । उनके नाता-पिता ही उनका विवाह कर देते हैं । यह बात अवश्य है कि ऐसा विवाह संगाई से बहुत भिन्न नहीं होता । विवाह के पश्चात् भी वे अपने माँ-बाप के यहाँ रहते हैं और सच्चा विवाह उस समय

होता है जब लड़की सथानी हो जाती है। उस समय यह रिवाज होता है कि वर वधु के घर जाकर उसे स्वयं अपने साथ लिया जाता है। परन्तु इस विवाह में मेरे गुहदेव यह बिलकुल भूल ही गये थे कि उनकी पत्नी भी है। अपने मायके मेरे लड़की ने यह भी सुन रखा था कि उसके पति को धर्मोन्माद हो गया है और उन्हें कुछ लोग पागल भी समझते हैं। उसने ठीक ठीक बात का स्वयं पता लगाने का निश्चय किया और अपने घर से निकल पड़ी और उस स्थान को आयी जहाँ उसका पति था। भारतवर्ष में यदि कोई स्त्री अपवा पुरुष धर्म के लिए अपना जीवन अर्पण कर देता है तो उसके ऊपर किसी प्रकार का दूसरा बन्धन नहीं रह जाता। परन्तु फिर भी जब वह स्त्री अपने पति के सम्मुख आकर ज़ह़ी हो गयी तो मेरे गुहदेव ने तुरन्त ही अपनी पत्नी का अपने ऊपर जीवनपर्वन्त अद्विकार स्वीकार कर लिया। वे अपनी पत्नी के चरणों पर गिर पड़े और कहने लगे, “जगन्माता ने तो मुझे यह दर्शा दिया है कि वह प्रत्येक स्त्री में निवास करती है और इसनिए में प्रत्येक स्त्री में उसे ही देखता हूँ। यही एक दृष्टि है जिसमें मैं तुम्हें देख सकता हूँ, परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा मुझे संसाररूपी मायाजाल में खींचने की हो, क्योंकि मेरा तुमसे विवाह हो चुका है, तो मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित हूँ।”

वह बालिका अत्यन्त पवित्र तथा उदार हृदय की थी और अपने पति की आकांक्षाएँ जान गयी तथा उनके कार्य के प्रति सम्भाव प्रकट करने लगी। उसने तुरन्त ही उत्तर दिया, “मेरी यह इच्छा बिलकुल नहीं है कि मैं आपको सांसारिक जीवन में जसीदूँ, परन्तु इतनी इच्छा अवश्य है कि मैं आप ही के समीप रहूँ, आप ही की सेवा करूँ तथा आप ही से धर्ममार्ग के सम्बन्ध में शिक्षा

ग्रहण करें ।” वह मेरे गुरुदेव की एक प्रधान अनुगत लिप्या हो गयी और सालात् ईश्वरज्ञान से उनकी सेवा-मूजा करने लगी । इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी की अनुमति से उनका अन्तिम बन्धन भी टूट गया और वे उस पथ पर चलने के लिए स्वतन्त्र हो गये जिसे उन्होंने चुना था ।

इसके बनातर इन महापुरुष की यह इच्छा हुई कि वे भिज्ञ भिज्ञ धर्मों के सत्य स्वरूप को जानें । उस समय तक उन्होंने अपने धर्म को छोड़कर किसी दूसरे धर्म के विषय में कुछ भी नहीं जाना था । उन्होंने यह जानना चाहा कि दूसरे धर्म किस प्रकार के हैं । अतः उन्होंने भिज्ञ भिज्ञ धर्मों के गुरुओं का आश्रय लिया । भारतवर्ष में गुरु का धर्म क्या होता है यह तुम्हें जान लेना चाहिए—गुरु के बल एक किरावी कीड़ा ही नहीं बरन् एक आत्मज्ञानी पुरुष होते हैं, जिन्हें आत्मानन्द का प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका होता है । उन्हें एक मुसलमान साधु मिल गया और वे उसी के साथ रहने लगे और उसने जो जो अक्षितभावात्मक साधनाएँ बतलायीं, उन सब को उन्होंने पूर्ण किया । मेरे गुरुदेव को यह बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस धर्म की साधनाएँ भी जब अन्तःकरण से की गयीं तो उन्हें उसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई जिसे वे पहले ही पा चुके थे । यही अनुभव उन्हें इसा मसीह के इसाई धर्म के सच्चे अनुज्ञान से भी हुआ । इसी प्रकार जो जो भी अन्य धर्मपत्न्य उन्हें मिले, उन सभी को उन्होंने ग्रहण किया और उन सभी की साधनाएँ उन्होंने पूर्ण अन्तःकरण से कीं । जैसा जैसा उनसे कहा गया, ठीक वैसा ही उन्होंने किया और प्रत्येक दक्षा में वे एक ही अनुभव को प्राप्त हुए । इस प्रकार स्वयं अनुभव द्वारा उन्हें यह ज्ञात हुआ कि प्रत्येक धर्म का ध्येय एक ही है और सब धर्म एक ही सत्य की

गिका देते हैं—अन्तर के बल मार्ग तथा विजेत रूप से जाता ने रहा है। वास्तविक रूप से सब पर्यांत तथा धर्मों का व्येत एक ही है। लोग के बल अपने अपने स्वार्थसाधन के लिए नहीं रहते हैं। वे सत्य के इच्छुक नहीं होते, पर इच्छुक होते हैं के बल अपने अपने सम्बद्धाय के नाम के लिए। सभी धर्म एक ही सत्य की गिका देते हैं, परन्तु उनमें से एक कहता है “दूसरा सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसे धर्म का नाम मेरे धर्म के नाम से भिन्न है—अतः दूसरे धर्म के प्रचारकों की बातों पर ध्यान भत दो और यद्यपि वह उद्गत-कुछ वही सिखाता है जो मैं कहता हूँ, परन्तु फिर भी वह स.प. नहीं कहता, क्योंकि जो कुछ वह सिखाता है वह मेरे धर्म के नाम से सम्बन्धित नहीं है।”

यह रहस्य मेरे गुरुदेव ने जान लिया और फिर वे परम ‘अहंशून्यता’ की साधना में संसन्न हो गये, क्योंकि वे यह जान नये थे कि प्रत्येक धर्म का एक मुख्य भाव है और वह यह कि ‘मैं कुछ नहीं हूँ—तू ही सब कुछ है’; और वास्तविक रूप से जो यह कहता है वह उसी के हृदय में ईश्वर प्रकाशित होते हैं। यह क्षुद्र अहंभाव जितना ही कम होता है उतनी ही उसमें ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है यह सत्य उन्होंने संसार के प्रत्येक धर्म में जान लिया और स्वयं उसका अनुभव करने का निश्चय किया। जैसा कि मैं तुमसे कह चुका हूँ, जब जब कोई साधना करने का विचार उनके मन में आया तब तब उसके सम्बन्ध की सूक्ष्म शास्त्रिक विवेचनाओं में न पड़कर वे जीव ही उसके आचरण तथा प्रयत्न में लग जाते थे। हम बहुतसे लोगों को जीवार्थ, समानता, दूसरों के अधिकार आदि कितने ही सद्विषयों पर बड़ी बड़ी बातें करते,

हुए देखते हैं; परम्परा ये सब बातें केयल शास्त्रिक ही होती हैं। मैं ऐसा भाव्यशाली था कि मेरे गुरुरेव एक ऐसे महापुरुष मिल गये कि उन्होंने जो कुछ कहा उसे कार्य रूप में परिणत कर प्रत्यक्ष दिखा दिया। उनमें इस बात की अद्भुत शक्ति थी कि जिस वस्तु को मेरे सत्यरूप समझते थे उसको कार्य रूप में परिणत कर डालते थे।

उसी स्थान के समीप एक चण्डाल जाति का कुटुम्ब रहता था। भारतवर्ष में इस जाति की संख्या कई लाख है और इन सोनों की जाति इतनी नीच समझी जाती है कि हमारे कुछ ग्रन्थों का कथन है कि यदि एक ब्राह्मण अपने घर के बाहर प्रातःकाल निकलते ही किसी चण्डाल का मुख देख ले, तो उसे दिनभर व्रत रखना पड़ता है और फिर शुद्ध होने के लिए कुछ मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है! कुछ हिन्दू नगर ऐसे हैं कि जब उनमें कोई चण्डाल बुसता है तो उसे अपने सिर पर एक कौए का पंख रख देना होता है जिससे सब उसे पहचान सकें कि वह चण्डाल है! साथ ही उसे जोर से यह भी चिल्लाना पड़ता है, 'हटो, बचो, सड़क पर एक चण्डाल जा रहा है', और यह देखा जाता है कि लोग उससे ऐसे दूर भागते हैं मानो जादू से भाग रहे हों, क्योंकि यदि वे उसे घोबे से छू भी लें तो उन्हें जाकर अपने कपड़े बदलने पड़ते हैं, स्नान करना पड़ता है तथा अन्य कई बातें करनी पड़ती हैं। चण्डाल भी हजार बरों से यह विश्वास करता चला आया है कि जो कुछ वह करता है वह उसे उचित ही है, क्योंकि यदि वह किसी को छू लेगा तो वह मनुष्य अपवित्र हो जायगा। मेरे गुरु-देव मनुष्यमात्र को एक-सा मानते थे और इसीलिए वे किसी भी चण्डाल के यहाँ चले जाते और उससे उसके घर में ज्ञाह-पोंछ करने की आज्ञा माँगते थे। शहर की सड़कों तथा दूसरों के घरों

को साफ करना चण्डाल का स्वर्यं का कार्य है । वह चर में सामने के दरवाजे से नहीं चुस सकता, परन्तु पीछे के दरवाजे से आता है और जैसे ही वह चला जाता है वैसे ही जिस जिस जगह पर वह चला होता है वह सारी जगह गंगाजल से छिढ़कर पवित्र कर ली जाती है । जन्म से ही ब्राह्मण शुद्ध माना जाता है और चण्डाल अशुद्ध । और आश्चर्य यही है कि मेरे गुरुदेव ने ब्राह्मण होते हुए भी चण्डाल के ही चर में दासकर्म करने की आज्ञा माँगी । बास्तव में चण्डाल ने उन्हें वह कार्य करने की आज्ञा नहीं दी, क्योंकि वे सब जानते थे कि किसी ब्राह्मण को ऐसा नीच कर्म करने की आज्ञा देना बड़ा भारी पाप होगा तथा फलस्वरूप वे सब के सब नष्ट हो जायेंगे । अतः चण्डाल ने उन्हें वह कार्य नहीं करने दिया । परन्तु आधी रात को जब चण्डाल के चर के सब लोग सोते रहते थे तो श्रीरामकृष्ण चर में चुस जाते थे । उनके बड़े बड़े बाल थे और अपने बालों से ही वे सारी जगह ज्ञान डालते और यह कहते जाते थे, “ हे जगन्माता, मुझे चण्डाल का दास बना दो और मुझे यह अनुभव चर लेने दो कि मैं उससे भी हीन हूँ । ” हिन्दू धर्मशास्त्रों की यह शिक्षा है कि “ मेरे भक्तों का जो भक्त है वह मुझे अत्यन्त प्रिय है—वे सब मेरे ही बच्चे हैं और उनकी सेवा करना महाभाग्य है । ”

आत्मशुद्धि के लिए इसी प्रकार को उनकी अनेक अन्य साधनाएँ भी थीं—उन सब का वर्णन करने में बहुत समय लगेगा । मैं उनके जीवन को तुम्हारे सामने केवल संक्षेप रूप से रखना चाहता हूँ । इसी प्रकार कई बर्तों तक उन्होंने अपने मन को शिक्षा दी । उनकी कई साधनाओं में से एक साधना स्त्री-पुरुष के भेदभाव को समूल नष्ट कर देने की भी थी । स्त्री-पुरुष का भेद केवल सारीर

में ही है, आत्मा में नहीं; और जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता जाहता है वह वह भेदभाव करनी नहीं मान सकता। यद्यपि हमारे गुरुदेव ने पुरुष-जातीय में जन्म लिया था परन्तु फिर भी सभी स्त्रियों में वे स्त्रीभाव जाने की चेष्टा करते रहे। वे यह सोचते रहे कि वे स्वयं पुरुष नहीं, बल्कि स्त्री हैं, बतः स्त्रियों के समान ही कर्ये पाहनने लगे, उन्हीं के समान बोलने लगे तथा पुरुषों के सब कार्य छोड़कर सुखील कुटुम्ब की स्त्रियों के बीच में आकर रहने लगे। इस प्रकार की नियमित साधना के बाद उनके मन का स्वरूप पलट गया तथा वे स्त्री-पुरुष के भेद की कल्पना बिलकुल भूल गये। और इस प्रकार जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बिलकुल बदल गया।

पाश्चात्य देश में प्रायः हम नारीपूजन के विषय में सुनते हैं, परन्तु यह पूजन बहुधा नारी के तावण्य तथा सावण्य के कारण ही होता है। परन्तु मेरे गुरुदेव के स्त्रीपूजन का भाव यह था कि प्रत्येक स्त्री में जगन्माता का निवास है और इसके अतिरिक्त जन्म कुछ नहीं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि मेरे गुरुदेव उन स्त्रियों के घरों पर गिर पड़ते थे जिन्हें समाज तिरस्कृत करता है, और उन स्त्रियों से भी रोते रोते वहीं पुकारते थे, “हे जगन्माता, एक स्वरूप में तुम सबकों पर चूमती हो और दूसरे स्वरूप में तुम जगद्व्यापिनी हो। हे जगद्व्ये, हे माता, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।” सोचकर देखो, उनका जीवन कितना धन्य है जिनका पशुभाव सम्मूर्ख रूप से नष्ट हो गया है, जो प्रत्येक रसंगी का भक्तिभाव से दर्शन कर रहे हैं तथा जिनके निकट प्रत्येक नारी के मुख ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया है जिसमें साकात् उसी जागद्व्यापी भगवती जगद्वात्री का भूज ही प्रतिबिम्बित हो रहा

ह । हमारी वृष्टि भी इसी प्रकार की होनी चाहिए । स्त्री में जो ईश्वरत्व बास करता है उसे हम कभी ठग नहीं सकते । यह न कभी ठगा गया है, न ठगा जायगा । यह सदैव अपना प्रभाव जमा लेता है तथा सदैव ही अचूक रूप से देईमानी तथा दोंग को पहुँचान लेता है और सत्य के तेज, आध्यात्मिकता के आलोक तथा पवित्रता की कमित का इसे अवश्य ही पता चल जाता है । यदि हम प्रहृत धर्मसाम करना चाहते हैं तो इस प्रकार की शुद्धता अत्यन्त आवश्यक है ।

मेरे गुरुदेव के जीवन में इसी प्रकार की प्रबार तथा विकृद विचरण आ गयी और सामान्य मनुष्य के जीवन में जो नाना प्रकार के छूट होते हैं वे उनके लिए सब नष्ट हो गये । अपना तीन-चतुर्थीय जीवन अतीत करके उन्होंने कड़ी तपस्याओं द्वारा जो आध्यात्मिक सम्पत्ति एकवित की थी वह अब मानवाति में विकर जाने के लिए तैयार हो गयी थी और उसके पश्चात् उन्होंने अपना जगत् का प्रचारकार्य आरम्भ किया । उनकी शिक्षा तथा उनके उपदेश कुल विस्कण प्रकार के थे । हमारे देश में सब से अधिक आदर तथा सम्मान गुरु को मिलता है तथा हमारी ऐसी अद्वा रहती है कि गुरु साक्षात् ईश्वर ही है । उतनी अद्वा हमें अपने माता-पिता के लिए भी नहीं होती । माता-पिता तो हमें केवल अल्प ही देते हैं; परन्तु गुरु तो हमें मुक्तिमार्ग दिलाते हैं । हम गुरु की सन्तान हैं—उनके मानसपुत्र हैं । किसी असाधारण महापुरुष के दर्शन करने को हृजारों हिन्दू आते हैं और वे उसके चारों ओर भीड़ लगा लेते हैं । मेरे गुरुदेव एक ऐसे ही महापुरुष थे, परन्तु मेरे गुरुदेव को यह व्याप्त ही नहीं था कि उनको मान-प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए बरवा नहीं । उन्हें इस बात का रंग भी भास

नहीं था कि वे एक बड़े गुरु हैं। उनको तो यही ध्यान था कि जो कुछ हो रहा वह सब माता ही करा रही हैं तथा वे स्वयं कुछ नहीं कर रहे हैं। वे सदैव यही कहा करते थे कि यदि मेरे मूँह से कोई अच्छी वात निकलता है तो वे जगन्माता के ही शब्द होते हैं—मैं स्वयं कुछ नहीं कहता। अपने प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में उनका यही विचार रहा करता था और महासमाधि के समय तक उनका यही विचार स्थिर रहा। मेरे गुहदेव किसी को दूँड़ने नहीं गये। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को प्रथम चरित्रवान् होना चाहिए तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है। वे बहुधा एक दृष्टान्त दिया करते थे कि 'जब कमल खिलता है तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती हैं—इसी प्रकार जब तुम्हारा चरित्ररूपी पंकज पूर्ण रूप से खिल जायगा और जब तुम आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लोगे, तब देखोगे कि फल तुम्हें अपने आप ही प्राप्त हो जायेंगे और शत-शत मनुष्य तुमसे शिक्षा ग्रहण करने आप ही आप आ जायेंगे।' हम सब जोगां के लिए यह एक बहुत बड़ी शिक्षा है। मेरे गुहदेव ने यह शिक्षा मुझे सैकड़ों बार दी, परन्तु फिर भी मैं इसे प्रायः भूल जाता हूँ। विचारों की अद्भुत शक्ति को बहुत धाँड़े लोग समझ पाते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी गुफा के अन्दर चला जाता है और उसमें अपने को बन्द कर किसी एक गहन तथा उदात्त विषय पर एकान्त में निरन्तर एकायचित्त हो मनन करता रहता है और उसी दशा में आजन्म मनन करता हुआ अपने प्राण भी त्याग देता है तो उसके उसी विचार की तरंगें गुफा की दीवालों को झेंदकर चारों ओर के बातावरण में फैल जाती हैं और अन्त में वे तरंगें सारी मनुष्यजाति में प्रवेश कर

जाती हैं। विचारों की यही अद्भुत शक्ति है। अतः अपने विचारों का दूसरों में प्रचार करने के लिए जल्दी नहीं करनी चाहिए। हमें पहले इस योग्य बन जाना चाहिए कि हम दूसरों को कुछ दे सकें। मनुष्य में ज्ञान का प्रसार केवल वही कर सकता है जिसके पास देने को कुछ हो, क्योंकि शिक्षा देना केवल ज्ञानिक व्यवहार नहीं है और न यह अपने मतों को दूसरों के सम्बुद्ध रखना ही है—इसका अर्थ है भावसंचार। जैसे मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ उसी प्रकार उससे भी अधिकतर प्रत्यक्ष रूप से धर्म भी दिया जा सकता है। और यह बात अभरणः सत्य है। यह भाव भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही विद्यमान है और पाश्चात्य देशों में जो 'ईश्वरदूतों की गुरुशिष्य-परम्परा' (Apostolic Succession) मत प्रचलित है, उसमें भी इसी भाव का दृष्टान्त पाया जाता है। अतः प्रथम हमें चरित्रवान् होना चाहिए और यही सब से बड़ा कर्तव्य है जो हमारे सामने है। सत्य का ज्ञान पहले स्वयं को होना चाहिए और उसके बाद उसे नुम अनेकों को सिखा सकते हो, बल्कि वे लोग स्वयं उसे सीखने आयेंगे। यही मेरे गुरुदेव की शैली थी। उन्होंने कभी किसी दूसरे पर टीका नहीं की। वर्षों में उनके समीप रहा, परन्तु उनके मुँह से कभी किसी दूसरे धर्मपत्न्य के बारे में मैंने बुराई नहीं मुनो। सब धर्मपत्न्यों पर उनकी समान श्रद्धा थी और उन सब में उन्होंने ऐक्य-भाव दूँह लिया था। मनुष्य ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, योगमार्गी अथवा कर्ममार्गी हो सकता है। त्रिभिन्न धर्मों में इन त्रिभिन्न भावों में से किसी एक भाव का प्राधान्य देखा जाता है। परन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि इन चारों भावों का विकास एक ही मनुष्य में पाया जाय। भविष्य-काल की मानवजाति में यही होनेवाला भी है। यही मेरे गुरु-

देव की आरणा थी । उन्होंने किसी को बुरा नहीं कहा, बरन् सब में बच्छाइयाँ ही देखीं ।

इन अपूर्व महापुरुष के दर्शन तथा इनके उपदेश सुनने के लिए हजारों मनुष्य आते थे और मेरे गुरुदेव गाँव की भाषा में ही बोलते थे, परन्तु उनका प्रत्येक शब्द बोजस्ती एवं बोधप्रद होता था । यदि सचमुच देखा जाय तो शब्द एवं भाषा अत्यन्त गोण हैं—वक्ता का व्यक्तित्व ही उनका प्राण है, यही उनमें व्यक्ति भर देता है । इसका अनुभव हम सभी को कभी कभी होता है । हम बहुधा अत्यन्त उत्कृष्ट तथा तर्क-वितर्कपूर्ण बोजस्ती भाषण सुनते हैं, परन्तु जब हम जर जाते हैं तो सब भूल जाते हैं । पर कभी कभी हम बहुत बोड़ेसे ही शब्द सुनते हैं और वह भी अत्यन्त साधारण भाषा में, लेकिन वे तो हमारे हृदय में ही प्रवेश कर जाते हैं और हमारे चीवन-रस में ही चुलकर हम पर चिरस्थायी प्रभाव डाल सकता है उसके शब्द प्रभावकाली होते हैं । परन्तु बात यह है कि उस मनुष्य का व्यक्तित्व ही असाधारण होना चाहिए । शिक्षण में सदा कुछ देना तथा लेना रहता है—शिक्षक देता है तथा शिष्य प्राहण करता है, परन्तु शिक्षक के पास कुछ देने को होना चाहिए तथा शिष्य भी नियंत्र बुद्धि से उसे प्राहण करनेवाल्य हो ।

मेरे गुरुदेव कलकाता शहर के सभीप रहने को आये । यह नगर उस समय भारतवर्ष की राजधानी था । यह शहर हमारे देश में शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र है जहाँ से प्रतिवर्ष सैकड़ों नास्तिक तथा अज्ञानी वाहर निकलते हैं—परन्तु किर भी यहाँ के ऐसे किसने ही सोग इनके पास आते और इनकी बातें सुनते थे । मैंने भी इन महापुरुष के बारे में सुना और इनके सभीप इनके उपदेश

मुनने गया । मेरे गुरुदेव एक अस्थन्त साधारण मनुष्य के समान प्रतीत होते थे तथा उनमें कोई विशेषता नहीं दिखती थी । वे बहुत साधारण भाषा का प्रयोग करते थे । उस समय मुझे आश्चर्य होता था कि 'क्या यह पुरुष वास्तव में महान् ज्ञानी है?' मैं धीरे से उनके पास सरक गया और उनसे वह प्रश्न पूछने लगा जो मैं अन्य सभी से पूछा करता था । मैंने प्रश्न किया, 'महाराज, क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ' । मैंने कहा, 'क्या आप सिद्ध करके दिखा सकते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ' । मैंने कहा, 'कैसे?' उन्होंने उत्तर दिया, 'जैसे मैं तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ उसी प्रकार से मैं ईश्वर को देखता हूँ—बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से।' इस उत्तर से मेरे मन पर उसी समय बड़ा असर पड़ा, क्योंकि जीवन में मुझे प्रश्न बार ही यह ऐसा पुरुष मिला जिसने तुरन्त ही यह कह दिया कि मैं एक वास्तविक सत्य हूँ, और जिस प्रकार हम अपनी इन्द्रियों द्वारा विश्व का अनुभव करते हैं उससे कहीं अधिक तीव्रता से उसका अनुभव किया जा सकता है । मैं उनके पास दिन-प्रतिदिन जाने लगा और मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया कि धर्म भी दूसरे को 'दिया' जा सकता है, केवल एक ही स्पर्श तथा एक ही दृष्टि में सारा जीवन बदला जा सकता है । मैंने महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह तथा मुहम्मद के बारे में एवं पुराणकालीन अन्य महात्माओं के विषय में पढ़ा है । वे किसी भी मनुष्य के सम्मुख खड़े होकर कह देते थे, 'तू पूर्णता को प्राप्त हो जा' और वह मनुष्य उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त हो जाता था । यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इन महापुरुष के स्वर्ण दर्शन कर लिये तो मेरी सारी नास्तिकता

दूर हो गयी । मेरे गुहदेव कहा करते थे, “इस संसार की किसी ली-दी जानेवाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से दिया तथा लिया जा सकता है ।” अतः प्रथम स्वयं तुम्ही आत्मज्ञानी हो जाओ तथा संसार को कुछ देने योग्य बन जाओ और फिर संसार के सम्मुद्देश देने के लिए बढ़े होओ । धर्म बात करने की चीज नहीं है, न वह साम्प्रदायिकता है, न मतवादविजेत । धर्म किसी सम्प्रदाय, अथवा संस्था में आवद नहीं रह सकता । यह तो आत्मा के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है । अतएव किसी एक संस्था में बढ़ होकर यह कैसे रह सकता है ? ऐसा होने से धर्म तो व्यवसाय ही हो जायगा और धर्म जब व्यवसाय बन जाता है तब धर्म का लोप हो जाता है । मन्दिर तथा गिर्जाघर बनवा देने तथा सामुदायिक पूजा में उपस्थित हो जाने का नाम धर्म नहीं है । यह पुस्तकों में, शब्दों में, व्याख्यानों में, अथवा संस्थाओं में नहीं रहता । यह आत्मसाक्षात्कार में ही है । वास्तव में हम सब जानते हैं कि जब तक हमको स्वयं सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक हमारा समाधान नहीं होता । हम चाहे जितना बाद-विवाद क्यों न करें तथा चाहे जितना सुनें, परन्तु हमें एक ही चेज से सन्तोष होगा और वह है स्वयं प्राप्त किया हुआ आत्मज्ञान ; और यह अनुभव प्रत्येक को प्राप्त होना सम्भव है यदि उसके लिए यत्न किया जाय । आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सब से पहले त्याग की आवश्यकता है । जहाँ तब हो सके हमें त्याग करना चाहिए । अन्यकार तथा प्रकाश, विषयानन्द तथा ब्रह्मानन्द ये दोनों कभी साथ साथ नहीं रह सकते । ‘ईश्वर तथा शंतान का सेवा एक साथ कभी नहीं की जा सकती ।’ यदि लोग चाहते हों तो उन्हें यत्न कर देखने दो । प्रत्येक देश में मैंने ऐसे बहुतसे पुरुष देखे हैं जो

दोनों वस्तुएँ एक साथ पाने का यत्न करते हैं, परन्तु अन्त में उनके हाथ कुछ भी नहीं लगता। सत्य तो यही है कि ईश्वर के लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग करना पड़ेगा। यह कार्य बड़े प्रयास का है और जल्दी नहीं हो सकता, परन्तु तुम इसे इसी चड़ी आरम्भ कर सकते हो। धीरे धीरे हमें त्याग करते हुए ध्येय की प्राप्ति करनी ही होगी।

दूसरा एक और अत्यन्त महसूपूर्ण तथा आश्चर्यजनक सत्य जो मैंने अपने गुहदेव से सीखा, वह यह है कि संसार में जितने धर्म हैं वे कोई परस्परविरोधी एवं वैरभावात्मक नहीं हैं—वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न भिन्न भाव मान हैं। यही एक सनातन धर्म चिरकाल से समग्र विश्व का आधारस्वरूप रहा है और चिरकाल तक रहेगा, और यही धर्म विभिन्न देशों में, विभिन्न भावों में प्रकाशित हो रहा है। मेरा धर्म अथवा तुम्हारा धर्म, मेरा राष्ट्रीय धर्म तथा तुम्हारा राष्ट्रीय धर्म अथवा नाना प्रकार के अलग अलग धर्म आदि विषय वास्तव में कभी नहीं थे। संसार में केवल एक ही धर्म है। अनन्तकाल से केवल एक ही सनातन धर्म चला आ रहा है और सदा वही रहेगा और यही एक धर्म भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीति से प्रकट होता है। अतएव हमें सब धर्मों को मान देना चाहिए और जहाँ तक हो सके उनके तत्कां में अपना विश्वास रखना चाहिए। धर्म केवल विभिन्न जाति या विभिन्न देशों अनुसार विभिन्न होता हो ऐसी बात नहीं, वरन् पात्र के अनुसार भी वह विभिन्न भाव द्वारा रखता है। किसी मनुष्य में धर्म तीव्र कर्मशीलता के रूप में प्रकट होता है, किसी दूसरे में उल्कट भक्ति के रूप में, किसी तीसरे में योग के रूप में तथा किसी अन्य में तत्त्वज्ञान के रूप

में। हम वही भूल करते हैं यदि धर्म के विषय में हम किसी से कहते हैं कि तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है। जायद एक मनुष्य जो भक्त है यह सोचेगा कि जो मनुष्य कर्ममार्गी है वह उचित धर्म-मार्ग पर नहीं जाता, क्योंकि वह अकित का मार्ग नहीं है। यदि कोई तत्त्वज्ञानी ऐसा सोचता हो कि 'ये बेचारे लोग कितने ज्ञानी हैं, ये प्रेममय परमेश्वर के विषय में तबा उसे प्रेम करने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते; ये क्या कर रहे हैं यही उन्हें ज्ञात नहीं है', तो यह उन तत्त्वज्ञानियों की भूल है, क्योंकि हो सकता है कि वे दोनों ही ठीक मार्ग पर हों। हम सभी को यह केन्द्रीय रहस्य समझ लेना चाहिए कि सत्य केवल एक है और यह भिज्ज भिज्ज प्रकार से प्रकट हो सकता है तथा भिज्ज भिज्ज दृष्टिकोणों से इसका भिज्ज भिज्ज स्वरूप दिख सकता है। यह समझ लेने पर भिज्ज भिज्ज धर्मों के विषय में वैरभाव को नष्ट कर हम सब आपस में उत्कृष्ट सहानुभूति रख सकेंगे। जब तक इस संसार में भिज्ज भिज्ज प्रकार के मनुष्य जन्म लेंगे तब तक हमें उसी एक आध्यात्मिक सत्य को विभिज्ज ढाँचों में ढासना पड़ेगा और जब हम यह बात समझ लेंगे तभी हम विभिज्जता के होते हुए भी एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने में समर्थ हो सकेंगे। जिस प्रकार प्रकृति कहने से बहुत में एकत्व का बोध होता है, जिस प्रकार व्यावहारिक जगत् में अनन्त भेद है, किन्तु इन समस्त भेदों के पीछे अनन्त, अपरिणामी, निरपेक्ष एकत्व विद्यमान है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। व्यष्टि समष्टि की अद्वाकार में पुनरावृत्ति मात्र है। ये सब भेद प्रतीत होते हुए भी इनमें ज्ञानवत् एकत्व विद्यमान है और इसी एकत्व के ज्ञान का हमें स्वीकार करना चाहिए। सब विचारों में यही

एक ऐसा विचार है जिसकी आज में अत्यन्त आवश्यकता समझता हूँ। मैं एक ऐसे देश से आ रहा हूँ जो विभिन्न धर्मसंघर्षायों का एक प्रमुख स्थान है और उस देश में सौभाग्यवश अवशा दुर्भाग्यवश कहिये, प्रत्येक नूतन धर्मवादी अपना अपना अनुयायी भेजना चाहता है। इस देश में रहने से बचपन से ही संसार के भिन्न भिन्न धर्म-पन्थों का मुझे ज्ञान हो गया है; और मैंने यह भी देखा है कि अमेरिका के मारमन्स* नामक प्रचारक भी इस देश में अपने धर्म का प्रचार करने आये। भारतवर्ष ने उन सभी का स्वागत किया। भारतवर्ष ही एक ऐसी भूमि है जहाँ धर्म का प्रचार सरलता से हो सकता है। अन्य किसी देश की अपेक्षा वहाँ कोई भी धर्म जीध द्वी अपना स्थान बना लेता है। यदि तुम उस देश में हिन्दुओं को राजनीति सिखाने जाओ तो वहाँ के लोग उसे नहीं समझेंगे, परन्तु यदि वहाँ किसी धर्म का प्रचार करने जाओ, और वह धर्म जाहे जितना विचित्र क्षणों न हो, जोड़े ही समय में तुम्हें संकड़ों अवशा हजारों अनुयायी मिल जायेंगे और शायद अपने जीवनकाल में ही तुम इन अनुयायियों के लिए ईश्वरवत् बन जाओ। मुझे हृषि है कि भारतवर्ष में ऐसा है, वहाँ हम इसे ही चाहते हैं।

हिन्दुओं में पन्थ अनेक हैं और उनमें से कुछ में तो आपाततः इतना विरोध देखा जाता है कि उनके मिलने की आशा ही नहीं की जा सकती, परन्तु वास्तव में वे सभी एक ही धर्म के विभिन्न

* इस सम्ब्राद्य को सन् १८३० ई. में युनाइटेड स्टेट्स बाल अमेरिका में जोसेफ स्मिथ ने स्थापित किया था। इसके अनुयायियों ने बाह्यिक में एक नया जन्माय जोड़ दिया है और वे इस बात का दावा करते हैं कि उनमें कुछ विजेय शक्तियाँ (Occult Powers) हैं। उनमें बहुविद्याह-पठनी भी थी।

प्रकाश मात्र है। 'जिस प्रकार भिज भिज नदियाँ विभिज पर्वतों से निकलकर टेढ़ीमेढ़ी या सीधी बहकर अन्त में आकर एक ही समुद्र में बिलीन हो जाती है उसी प्रकार भिज भिज दृष्टिकोणों-बाले भिज भिज धर्मपन्थ अन्त में तुम्हीं में मिल जाते हैं।' ० यह केवल शास्त्रिक तर्स्त्रज्ञान नहीं है बरन् यह एक ऐसा सत्य है जो हम सभी को मान्य होना चाहिए। परन्तु यह इस प्रकार नहीं माना जाना चाहिए जैसे कुछ लोग अनुग्रहपूर्वक दूसरों के धर्म की कुछ बातें सत्य मानते हैं; उदाहरणार्थ के कह देते हैं—ही हीं, इनमें कुछ बातें बड़ी अच्छी हैं। इन धर्मों में कुछ न कुछ अच्छी बातें रहती ही हैं, आदि आदि। कुछ लोगों की बड़ी विलक्षण कल्पना होती है जो बड़ी 'उदार'-सी प्रतीत होती है—वे कहते हैं कि अन्य सब धर्म एतिहासिक युग के पूर्ववर्ती समय के क्रमविकास के क्षुद्र चिट्ठनस्वरूप हैं, किन्तु 'केवल हमारे ही धर्म ने सम्पूर्णता प्राप्त की है।' एक मनुष्य कहता है कि मेरा धर्म सब से प्राचीन है अतः सर्वथोर्ण है। दूसरा कहता है कि मेरा धर्म सर्वोत्तम है, क्योंकि वह सब से आधुनिक है। पर हमें यह समझना चाहिए कि मोक्षप्राप्ति की शक्ति प्रत्येक धर्म में समान है। मन्दिर अथवा गिरजाघर में जो धर्मों का भेदभाव दिखायी देता है वह कुसंस्कार मात्र है। एक ही परमेश्वर सभी की पुकारों को मुननेवाला है और वही एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर इस अति क्षुद्र जीवात्मा की रक्षा तथा मुक्ति का जिम्मेदार है—न तुम, न मैं तथा न अन्य कोई दूसरा पुरुष ही। मैं यह नहीं समझ सकता कि कुछ लोग यह कहते हुए भी कि 'मैं ईश्वर में पूर्ण शक्ति रखता हूँ' यह

* "हस्तिणां वैचिष्ट्यावृज्जृष्टिमनानापयजुपां।

नृणामेको वम्यस्त्वमनि पयसामर्णं इति ॥"—किष्मतहिम्नःस्तोत्र

आप रखते हैं कि ईश्वर ने कुछ बोड़ेसे ही लोगों को सब सत्य का ढेका दे दिया है और वे सारी शेष मनुष्यजाति के संरक्षक हैं। इसे तुम 'धर्म' कैसे कह सकते हो? धर्म का अर्थ है आत्मानुभूति, परन्तु केवल कोरी बहस, बोलबाला विश्वास, अन्धेरे में टटोलबाजी तथा तोते के समान पूर्वजों के शब्दों को दुहराना और ऐसा करने में धर्म समझना, एवं धार्मिक सत्य में से कोई राजनीतिक विषय दूँढ़ निकालना—यह सब 'धर्म' बिलकुल नहीं है। प्रत्येक पन्थ में यहाँ तक कि इस्लाम पन्थ में भी जिसे हम अत्यन्त दुराग्रही समझते हैं, हम यही देखते हैं कि जब कभी किसी मनुष्य ने आत्मज्ञान प्राप्त करने का यत्न किया तो उसके मुँह से यही सब निकले—'हे ईश्वर, तू ही सब का नाथ है, तू ही सब के हृदय में वास करता है, तू ही सब का मार्गदर्शक है, तू ही सब का गुरु है और तू ही हम सभी की अपेक्षा अनन्त रूप से इस विश्व का रक्षक है।' किसी मनुष्य की अद्वा नष्ट करने का प्रयत्न भल करो। यदि हो सके तो उसे जो कुछ अधिक अच्छा हो दे दो, यदि हो सके तो जिस दर्जे पर वह बढ़ा हो उसे सहायता देकर ऊपर उठा दो—परन्तु जिस स्थान पर वह था उस जगह पर से उसे नीचे मत गिराओ। सच्चा गुरु वही है जो क्षण भर में ही मानो हजारों विभिन्न व्यक्तियों में अपने को परिणत कर सके। सच्चा गुरु वही है जो विद्यार्थी को सिखाने के लिए विद्यार्थी की ही मनोभूमि के बराबर तुरन्त उत्तर आये और अपनी आत्म अपने शिष्य की आत्मा में एकरूप कर सके तथा जो शिष्य की ही दृष्टि से देख सके, उसी के कानों से मुन भक्ते तथा उसी के भस्त्रांज से समझ सके। ऐसा ही गुरु शिक्षा दें सकता है—अब दूसरा नहीं। अन्य सब निषेधक, निष्ट्वाहक तथा संहारक गुरु

कभी ममाई नहीं कर सकते ।

अपने गुहारे के सहबास में रहकर मैंने यह जान लिया कि इस जीवन में ही मनुष्य पूर्णवस्था को पहुँच सकता है । उनके मुख से कभी किसी के लिए दुर्बल नहीं निकले और न उन्होंने कभी किसी में दोष दूँड़ा । उनकी आईयें कोई बुरी चीज देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रवेश कर सकते थे । उन्हें जो कुछ दिखा वह अच्छा ही दिखा । यही महान् पवित्रता तथा महान् त्याग आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है । वेदों का कथन है—

“अमरत्व न तो सम्पत्ति से प्राप्त हो सकता है, न सन्तति से—वह तो केवल वैराग्य से ही पाया जा सकता है ।” श्री ईसा मसीह का कथन है कि ‘जो कुछ तुम्हारे पास है वह सब बेच दो तथा निधनों को दे दो और मेरे पीछे पीछे आ जाओ ।’ यही भाव सब साधुसन्तों तथा देवी पुरुषों ने भी प्रकट किया और उसे अपने जीवनकाल में निवाहा है । आध्यात्मिकता बिना त्याग के कैसे प्राप्त हो सकती है ? सभी धर्मभावों की पाश्वंभूमि केवल त्याग ही है और तुम यह सदैव देखोगे कि जैसे जैसे त्याग का भाव कीज होता जाता है वैसे वैसे धर्म के क्षेत्र में इन्द्रियों का प्रभाव बढ़ता जाता है और उसी परिमाण में आध्यात्मिकता का हृदास होता जाता है ।

मेरे गुहारे त्याग की साकार मूर्ति थे । हमारे देश में जो ऐंगुर तंत्राती होता है उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह सारी सांसारिक सम्पत्ति तथा यज्ञ का त्याग कर दे और मेरे गुहारे ने इस सिद्धान्त का अक्षरमः पालन किया । ऐसे बहुतसे

“न जनेन प्रजया त्यागेनैकेऽमृतत्वमानन् ।”

मनुष्य थे जो अपने को धन्य मानते यदि मेरे गुरुदेव उनसे कोई भेट ग्रहण कर लेते और यदि वे स्वीकार करते तो वे मनुष्य उन्हें हजारों रूपये दे देते, परन्तु मेरे गुरुदेव ऐसे ही लोगों से दूर भागते थे । काम-कांचन पर उन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी और इस बात के बे प्रत्यक्ष उदाहरण भी थे । वे इन दोनों बातों की कल्पना के भी परे थे और इस शताब्दी के लिए ऐसे ही महापुरुषों की आवश्यकता है; आजकल के दिनों में ऐसे ही त्याग की आवश्यकता है; विशेषकर नव लोग यह समझते हैं कि उन चीजों के बिना वे एक मास भी जीवित नहीं रह सकते, जिन्हें वे केवल 'आवश्यकताएँ' ही कहते हैं और जिन्हें वे दिन पर दिन अत्यधिक रूप से बढ़ाते जा रहे हैं । आजकल के समय में ही यह आवश्यक है कि कोई एक ऐसा मनुष्य उठकर संसार के अविश्वासी पुरुषों को यह दिखा दे कि संसार में आज भी एक ऐसा महापुरुष है जो संसार भर की सम्पत्ति तथा कीर्ति को एक तृण भर भी परवाह नहीं करता—और आज संसार में ऐसे पुरुष हैं भी ।

मेरे गुरुदेव के जीवन का दूसरा महान् तत्त्व दूसरों के प्रति अगाध प्रेम था । उनके जीवन का पूर्वार्थ धर्मोपार्जन में लगा रहा तथा उत्तरार्थ उसके वितरण में । किसी धार्मिक प्रचारक अथवा संन्यासी से भेट करने का ढंग हमारे देश में ऐसा नहीं है जैसा इस देश में है । भारतवर्ष में यिन्हें यिन्हें प्रश्नों को पूछने के लिए लोग साधुसंन्यासियों के पास जाते हैं और कोई कोई लो संकड़ों भील से पैदल चलकर एक ही प्रश्न पूछने आते हैं—'महाराज, एक-आध ऐसा शब्द बता दीजिये जिससे मोक्ष मिल जाय ।' इस प्रकार वे उनका एक-आध शब्द सुनने के

लिए ही आते हैं। वे बिना आडम्बर के शुष्ठों में आते हैं और उस स्थान पर जाते हैं जहाँ वे साधु अधिकतर रहते हैं—जैसे इसी बृक्ष आदि के नीचे—और वहाँ आकर उनसे प्रश्न करते हैं। एक शुष्ठ जाने के बाद दूसरा शुष्ठ आ जाता है। इस प्रकार यदि कोई पुरुष बसामान्य आध्यात्मिकतासम्पन्न हैं तो कभी कभी तो उन्हें रात दिन में बोडा भी विश्वाम नहीं मिलता। उन्हें मगातार बातचीत करते ही रहना पड़ता है। घटों सोग आते रहते हैं और ये महापुरुष उन्हें उपदेश देते रहते हैं।

इस प्रकार आदमियों के शुष्ठ के शुष्ठ मेरे गुरुदेव के श्रीबच्चन सुनते आते थे और वे चौबीस घण्टे में से बीस घण्टे तक उनसे बातें करते रहते थे। और वह भी एक दिन की बात नहीं, बल्कि नहीं यही क्रम जारी रहा जिसका फल यह हुआ कि अन्त में उनका जारी अत्यन्त परिश्रम के कारण टूट गया। उन्हें मानवतावान्य बानेबाले हजारों में से अत्यन्त सामान्य मनुष्य भी उस कृपालाभ से बंचित नहीं रहता था। फलस्वरूप द्विरे द्विरे उन्हें गले का एक बड़ा भयंकर रोग हो गया, परन्तु फिर भी आगह करने पर भी वे इतनी मेहनत करना नहीं छोड़ते थे। जैसे ही वे सुनते कि बाहर आये हुए लोग उनसे मिलने के इच्छुक हैं तो उन्हें अन्दर दूलाये बिना वे नहीं मानते थे और उनके सब प्रश्नों का उत्तर देते थे। जब उन्हें ऐसा करने से रोका जाता था तो वे उत्तर देते थे, 'मैं परवाह नहीं करता। यदि एक भी मनुष्य की सहायता हो सके तो मैं ऐसे हजारों जारी छोड़ने को तैयार हूँ—एक आदमी की भी सहायता करना मैंपूर्ण पुरुषावं है।' उनके लिए विश्वाम मानो या ही नहीं। एक बार एक मनुष्य

ने उनसे पूछा, “महाराज, आप वडे योगी हैं—आप अपना मन थोड़ा अपने शरीर की ओर ही क्यों नहीं लगा देते जिससे आपकी बीमारी ठीक हो जाय ?” पहले तो उन्होंने उत्तर नहीं दिया, परन्तु जब वही प्रश्न कई बार पूछा गया तो उन्होंने धीरे से कहा, ‘मित्र, मैं समझता था कि तुम जानी हो, परन्तु तुम भी संसार के अन्य लोगों के समान ही बातें करते हो। यह सारा मन मैंने ईश्वरार्पण कर दिया है, तो क्या अब मैं इसे वापस ले लूँ और इसे इस शरीर में लगाऊं जो आत्मा का केवल पिंजड़ा है ?’

इस प्रकार वे लोगों को उपदेश देने लगे, और अन्त में यह खबर फैल गयी कि उनका अन्तकाल समीप आ गया है। तब तो पहले की अपेक्षा कहीं अधिकाधिक लृण्डों में लोग उनके पास आने लगे। तुम सह अनुमान नहीं कर सकते कि भारतवर्ष में ऐसे महान् साधुसन्तों के समीप लोग किस प्रकार जाते हैं—कैसे वे उनके चारों ओर भीड़ जमा कर लेते हैं और उनके जीवनकाल में ही उन्हें देवतास्वरूप पूजते हैं। हजारों उनके पहने हुए बस्तों को ही छूने मात्र की प्रतीक्षा करते रहते हैं। दूसरों की आध्यात्मिकता का हृदय से आदर करने से ही मनुष्य में आध्यात्मिकता आ जाती है। मनुष्य जो कुछ हृदय से चाहता है वही उसे मिल जाता है—राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। यदि तुम भारतवर्ष में जाकर एक राजनीतिक भाषण दो तो वह चाहे जितना ओजस्वी क्यों न हो, तुम्हें वहाँ बहुत कम श्रोतालग्न दिल्संगे, परन्तु यदि तुम जन्म का प्रचार करने जाओ, और इसके बारे में केवल जागिक विवेचन ही न करो, वरन् उसे स्वर्ण अनुभव करो तो सैकड़ों मनुष्य केवल उसे सुनने ही न आयेंगे बरन् तुम्हारे चरण भी स्पर्श करेंगे। जब लोगों ने यह सुना कि वे

महापुरुष सम्भवतः उन्हें शीघ्र ही छोड़कर चले जायेंगे तो वे उनके पास पहले की अपेक्षा और अधिकाधिक संख्या में आने लगे और मेरे गुरुदेव अपने स्वास्थ्य की थोड़ीसी भी चिन्ता न करते हुए उन्हें निरन्तर उपदेश देते रहे। हम लोग भी उन्हें इस बात से रोक न सके। बहुतसे लोग तो बड़ी बड़ी दूर से आते थे और मेरे गुरुदेव जब तक उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे तब तक विश्राम नहीं करते थे। वे यही कहा करते थे—‘जब तक मैं बोल सकता हूँ तब तक मैं उन्हें उपदेश देता रहूँगा।’ और उन्होंने अपने कथन को सदा पूरा किया। एक दिन उन्होंने हम सब लोगों से कहा—‘मैं आज इस शरीर का त्याग करूँगा’ और वेदों के परम पवित्र शब्द अँ का उच्चारण करते करते वे महासमाधि में प्रवेश कर गये।

उनका सन्देश तथा उनके विचार ऐसे बहुत थोड़े लोगों को जाते थे जो ‘उनका प्रचार कर सकते। अन्य लोगों के अतिरिक्त वे कुछ युवक बालकों को, जो संसार में अपना सब कुछ छोड़ नुके थे तथा उनका कार्य चलाने को तैयार थे, अपने पीछे छोड़ गये। डॉट-एप्ट द्वारा उनके घरबालों ने उन्हें उन मार्ग से हटाने के लिए भी बहुत प्रयत्न किया, परन्तु मेरे गुरुदेव के असामान्य जीवन द्वारा उनके हृदय में जो स्फूर्ति भर गयी थी उसके कारण वे अचल बने रहे। वर्षों से उस परम भयंकर विभूति के सहवास के कारण उन्होंने अपना मार्ग नहीं छोड़ा। ये नवयुवक संन्यासाश्रम के सभी नियमों का प्रतिपालन करने लगे और उसी शहर की गलियों में जिनमें वे पैदा हुए थे, भिक्षाटन करते हुए अपना कार्य करते रहे, यथापि उनमें से कई बड़े उच्च घरानों के थे। प्रबल तो उन्हें तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा, परन्तु

उन्होंने दैर्घ्य नहीं छोड़ा और धीरे धीरे उन भहापुरुष के दिव्य सन्देश वे भारतवर्ष में दिन-प्रतिदिन फैलाने लगे, दहाँ तक कि सारा देश मेरे गुहादेव के लादेशों से फूँज उठा : बंगाल प्रास्त के एक दूर गाँव में पैदा हुए इन भहापुरुष ने जिन्हें पाठशाला में शिक्षा दी नहीं पिली थी, केवल अपने दृढ़ निष्ठय से सत्य की उपलब्धि की तथा उसे दूसरों को प्रदान किया, और उसे जीवित रखने के लिए वे त्रुट शोड़ेसे हीं न-युवर छोड़ गये ।

आज श्रीरामकृष्ण वा नाम भारतवर्ष में जाखों पुरुषों को जात है। इतना ही नहीं, वरन् उम महामुरुप की शक्ति भारतवर्ष के बाहर भी फैल गयी है। और इस संसार में यह के सम्बन्ध में अभना आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में यदि नै कहीं एक शब्द भी कही जोना हूँ तो उसका ज्ञान श्रेष्ठ मेरे गुहादेव को है—भूलें केवल मेरी हैं ।

श्रीरामकृष्ण का सन्देश आधुनिक संसार को यहीं है—“ मतवादों, आचारों, पन्थों तथा विजिधिरों एव वर्जनों की ही अपेक्षा मत करो । प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो जार वस्तु अर्थात् ‘धर्म’ विद्यमान है इसकी नुलना में ये यथा गुब्ल हैं, और मनुष्य के अन्दर यह भाव जितना ही अधिक अस्तित्व होता है, वह उतना ही जगत्कल्याण के लिए सामर्थ्यवान् हो जाता है । प्रथम इसी धर्मधन का उपायं लरो, किसी में दोनों मत दूँको, क्योंकि सभी मत, सभी पन्थ अच्छे हैं । अपने जीवन द्वारा यह दिखा दो कि धर्म का अर्थ न तो शब्द होता है, न नाम और । मम्प्रदाय, वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति । जिन्हें अनुभव हुआ है वे ही इसे समझ सकते हैं । जिन्होंने धर्मनाभ कर लिया है वे ही दूसरों में धर्मभाव संचालित कर सकते हैं, वे ही मनुष्य-

जाति के ब्रेष्ट आचार्य हो सकते हैं—केवल वे ही इस संसार में आनन्दयोतिरूप शक्ति का संचार कर सकते हैं।”

जिस देश में ऐसे मनुष्य जितने ही अधिक पैदा होंगे वह देश उतनी ही उन्नत अवस्था को पहुँच जायगा और जिस देश में ऐसे मनुष्य बिलकुल नहीं हैं वह नष्ट हो जायगा—वह किसी प्रकार नहीं बच सकता। अतः मेरे गुरुदेव का मानवजाति के लिए यह सन्देश है कि ‘प्रथम स्वयं धार्मिक बनो और सत्य की उपलब्धि करो।’ वे चाहते थे कि तुम अपने भातृस्वरूप समग्र मानव-जाति के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग दो। उनकी ऐसी इच्छा थी कि भ्रातृप्रेम के विषय में बातचीत बिलकुल न करो, वरन् अपने बच्चों को सिद्ध करके दिखाओ। त्याग तथा प्रत्यक्षानुभूति का समय आ गया है, और इनसे ही तुम जगत् के सभी धर्मों में सामंजस्य देश पाओगे। तब तुम्हें प्रतीत होगा कि आपस में जागड़ की कोई आवश्यकता नहीं है और तभी तुम समग्र मानवजाति की सेवा करने के लिए तैयार हो सकोगे। इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा देने के लिए कि सब धर्मों में मूल सत्त्व एक ही है, मेरे गुरुदेव का अवतार हुआ था। अन्य धर्मसंस्थापकों ने स्वतन्त्र धर्मों का उपदेश दिया था और वे धर्म उनके नाम से प्रचलित हैं, परन्तु उन्हींसभीं शताब्दी के इन महापुरुष ने स्वयं के लिए कुछ भी दावा नहीं किया। उन्होंने किसी धर्म को धक्का नहीं पहुँचाया, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया था कि वास्तव में सब धर्म एक ही ‘चिरन्तन धर्म’ के भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।